UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186630

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H320 S95W Accession No. P. G. H434

Author सुन्दरलाल, और भगवानदास केला

Title विश्वसंघ की ओर 1942

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला,
दारागज, (प्रयाग)

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी बी. कॉम.
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग।

महात्मा गांधी की सेवा में

पूज्य बापू !

विश्व-संघ या विश्व-राज्य की योजनाएँ आज हर विचारक और हर नीतिज्ञ की ज़बान पर हैं। स्थाई विश्व-शान्ति के लिए इस तरह के किसी न किसी संगठन की ज़रूरत सब महसूस कर रहे हैं। किन्तु कोई भी स्थाई विश्व-संघ केवल मनुष्य मात्र की बराबरी, मनुष्य मात्र के बन्धुत्व, प्रेम और अहिंसा के सहारे ही क़ायम हो सकता है। आज दुनिया में इन सत्य-सिद्धान्तों के आप सब से बड़े प्रतीक है। इसलिए यह छोटी सी पुस्तक स्नेह, नम्रता, और आदर के साथ आप के कर कमलों में समर्पित की जा रही है।

सुन्दरलाल

भगवानदास केला

निवेदन

इस समय के संसार की एक खास समस्या पर बहुत नम्रता के साथ हम यह छोटी सी पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका सी ही है। काग़ज़ और प्रेस की आजकल की कठिनाइयों में, भारतीय ग्रन्थमाला जैसी मामूली हैसियत की संस्था के लिये, इसे भी छपा सकना ग़नीमत है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि देश के विचारशील लोग इस विषय की ओर ध्यान देने की कृपा करें।

इक्कीस वर्ष पहले की बात है। श्री० भाई (अब संन्यासी) भवानीदयाल जी के सम्पादन में दक्षिण अफ्रीका से निकलने वाले "हिन्दी" के ता० २७ जुलाई १९२३ के 'राष्ट्रीय अंक' में हमने एक लेख लिखा था—'सार्वभौम साम्राज्य'। उस लेख मे "क्या इस समस्त भूमडल पर कभी एक साम्राज्य होगा?", इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमने अपनी आशावादिता इन शब्दों में प्रकट की थी—"हाँ, आशा है। जिस इतिहास मे विविध राष्ट्रों के जीवन मरण का वृत्तान्त लिखा है, उसी में विवेकी पाठकों को सार्वभौम साम्राज्य की आशा मिल जायगी। इतिहास फिर पढिये, और इस दृष्टि से पढिये कि विविध साम्राज्यों का ह्रास और पतन क्यो हुआ, उन कारणों को खोज निकालिये। पुष्टि के सिद्धांत निश्चित कीजिये। उनका पालन होने पर, स्वार्थ की नींव हटा कर अपने पराये, काले गोरे, स्वामी और दास का भेद दूर करके परमार्थ की नींव पर मनुष्य-जाति का सार्वभौम साम्राज्य अवश्य बन सकेगा।"

उस लेख के अंत में हमने कहा था—"यह स्वर्गीय भावों वाला साम्राज्य कब बनेगा, कैसे बनेगा, उसकी शासन-प्रणाली कैसी होगी; उसमें भौतिक सभ्यता कितनी कम, और आध्यात्मिक सभ्यता कितनी

अधिक, होगी; भारतवर्ष का उसमें कैसा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान होगा; इन महान प्रश्नों पर फिर कभी विचार होगा। यह स्मरण रहे कि मनुष्यों की कई पीढ़ियाँ निरन्तर उसका उद्योग करें, कवि उसके सम्बन्ध मे काव्य रचना करे, गवैये उसका गान करें, लेखक उसके लिये लेख लिखे, और हाँ, स्वप्न देखने वाले उसका स्वप्न भी देखे। परमात्मा की कृपा से, मनुष्यों के संगठन सम्बन्धी इस उच्च अभिलाषा की पूर्ति अवश्य होगी। जो आज विचार है, कल कार्य में परिणत हो जायगा। जो अब सूक्ष्म है, भविष्य मे स्थूल रूप धारण कर सब को दर्शन देगा, और सब का हित साधन करेगा।"

ऊपर की पंक्तियों मे सार्वभौम साम्राज्य के सम्बन्ध मे कुछ ब्यौरेवार विचार करने की बात कही गयी थी। ध्यान रखने पर भी जब हमें उसके लिए समय मिलता दिखायी न दिया तो हमने दूसरे मित्रों से यह काम कराना चाहा। पर उन्हे भी, जैसी चाहिए थी, सुविधा न हुई। हमें समय समय पर इस काम की याद आती रही। सन् १९४० में 'साम्राज्य, और उनका पतन' पुस्तक को छपाने के लिए सशोधित करते समय तो यह काम विशेष रूप से सामने आया, लेकिन उस समय भी न हो पाया। इस बीच, संसार के राजनैतिक वातावरण के एक गहरे परिवर्तन ने हमारा ध्यान अपनी तरफ खींच लिया।

संसार के साम्राज्य-सूत्रधारों ने अपनी स्वार्थपरता, हिन्सा और जबरदस्ती का जहा तहा ऐसा नंगा नाच दिखाया कि लोगों में 'साम्राज्य' शब्द के प्रति ही घृणा बढ़ने लगी, यहाँ तक कि साम्राज्यों के कुछ कर्ताधर्ता तक अपने आपको 'साम्राज्यवादी' कहने में सकोच करने लगे, वे अपने साम्राज्यों को 'स्वतंत्र राष्ट्रों का समूह', 'राष्ट्र-मंडल' या 'कामनवेल्थ' आदि कहने लगे। ऐसी हालत में, अपना भाव प्रकट करने के लिए हमें अपनी पुस्तक का नाम 'सार्वभौम साम्राज्य' रखना

ठीक न जचा। हमने 'विश्व-राज्य' नाम का विचार किया। पर कुछ मित्रों ने कहा कि विश्व-राज्य से भी शायद कुछ पाठकों के मन में ऐसी ही धारणा हो, जैसी सार्वभौम साम्राज्य से, यानी कोई एक बड़ा और मज़बूत राज्य अपनी ताक़त के ज़ोर से दूसरे सब राज्यों को अपने अधीन करले, और इस तरह संसार भर में अपनी हकूमत चलावे। यह ख्याल मन में आने पर हमने पुस्तक का नाम 'विश्व-राज्य' रखना भी ठीक न समझा। असल में ससार भर में जिस एक राज्य के होने की हम कल्पना करते हैं, उसकी शासनपद्धति संघ यानी फेडरेशन के रूप में ही होगी। उसमें दुनिया के सब देश, सब राज्य बराबरी के नाते से मिलेंगे। उसकी तरफ प्रगति हो रही है, चाहे उसकी रफ़्तार कितनी ही धीमी हो, और चाहे उसमें कितनी ही बाधाएँ क्यों न हों। इस बात को साफ करने के लिए इस पुस्तक का नाम 'विश्व-संघ की ओर' रखना ही ठीक समझा गया। पुस्तक के अन्दर कहीं कहीं 'विश्व-राज्य' शब्द का भी उपयोग किया गया है। दोनों शब्दों से, हमारा मतलब एक ही है।

समय समय पर इस विषय का जो साहित्य हमारे सामने आया, उसे हमने पढ़ा, और उसकी ज़रूरी बाते नोट कीं। इस तरह की सामग्री में हमें प्रसिद्ध विद्वान लाला हरदयाल जी की 'हिन्ट्स फ़ार सेल्फ कल्चर' नाम की अंगरेज़ी पुस्तक के आखिरी तीन अध्याय बहुत अच्छे और उपयोगी मालूम हुए। इन अध्यायों के आवश्यक अंश नोट कर लिये गये। इस सब सामग्री का उपयोग करके पिछले वर्ष (१९४३) एक छोटी सी पुस्तक तैयार करने का निश्चय किया गया।

इसी समय हमारे सौभाग्य से हमारे चिर परिचित, हमारे साहित्य-कार्य को सराहने वाले और हमारी दो पुस्तकों—'अपराध चिकित्सा,' और 'साम्राज्य और उनका पतन' के भूमिका-लेखक श्रद्धेय श्री पंडित सुन्दरलाल जी जेल से छूटे। आप जेल में सख़्त बीमार

रहे थे और बीमारी ही के कारण, उसी हालत में आप छोड़े गये थे। धीरे धीरे आपकी सेहत कुछ सुधरी, तब आप से इस पुस्तक की चर्चा की गयी, और इस विषय में विचार-विनिमय किया जाने लगा। यह काम बहुत डरते डरते किया गया; डर इस बात का था कि पंडित जी का स्वास्थ्य अभी काफी सुधरा नही था, और अंदेशा था कि कहीं दिमागी काम का कुछ खराब असर न पड़े। लेकिन पंडित जी को इस विषय से बहुत प्रेम था। जहाँ तक आपका शरीर सहन कर सका, आपने इस पुस्तक के लिए समय दिया। ऐसा करने मे आपने एक हद तक अपने स्वास्थ्य की जोखम भी उठाई। आपके प्रेमपूर्ण सहयोग और सच्ची लगन का ही यह फल है कि यह पुस्तक इस रूप में तैयार हो सकी।

जिस विषय पर हमने इक्कीस वर्ष पहले कुछ लिखने का विचार किया था, उस पर अब हिन्दी ससार के एक सुप्रसिद्ध महानुभाव की बहुमूल्य सहायता से, प्रकाश डालने का साहस किया है। अपनी कमी और त्रुटियों के लिये हम क्षमा चाहते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि मानव हित की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि इस पर भारतवर्ष की ही नही, ससार की सभी भाषाओं में बहुत सा साहित्य तैयार किये जाने की ज़रूरत है। हमें आशा है, दूसरे योग्य, विद्वान और सहृदय लेखक इस ओर ध्यान देगे और सत् सहित्य के प्रेमी उन्हे पूरा पूरा प्रोत्साहन देगे।

विनीत

विषय सूची

पहला खंड ; अब तक की यात्रा

अध्याय	विषय		पृष्ठ
१	विषय-प्रवेश	...	१
२	सामाजिक भावना	...	८
३	परिवार	...	१७
४	क़बीला और जाति	...	२७
५	गाँव और नगर	.	३२
६	राष्ट्र	...	४४
७	साम्राज्य	...	५०
८	संघ-राज्य	...	५६
९	अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग	...	६७
१०	शान्ति के प्रयत्न	...	८२
११	नयी व्यवस्था	...	९४

दूसरा खंड ; रास्ते की बाधाएँ

१२	यात्रा का अनुभव	...	१०१
१३	पारिवारिक मोह	...	१०६
१४	वर्ण-भेद और जाति-भेद	...	११४
१५	भाषा-भेद	...	१२६
१६	सम्प्रदायिकता	...	१३८
१७	राष्ट्रवाद	...	१५१
१८	साम्राज्यवाद	...	१६०
१९	महायुद्ध	...	१७३

तीसरा खंड; कहाँ पहुँचना है ?

अध्याय	विषय		पृष्ठ
२०	हमारा लक्ष्य	...	१८६
२१	मानव जाति की एकता	...	१९१
२२	विश्व-संघ की जरूरत	...	२०१
२३	विश्व-संघ के आधार	...	२०९
२४	विश्व-संघ की संस्कृति	...	२१९
२५	विश्व-धर्म	...	२३४
२६	विश्व अर्थनीति	...	२४६
२७	विश्व-संघ का शासन	...	२६३
२८	विश्व-संघ और अहिम्सा	...	२७७
२९	हमें क्या करना चाहिए ?	...	२८८
३०	आत्म-निर्माण	..	२९४
परिशिष्ट—	विश्व-संघ में पशु पक्षी	...	३०१

पहला खंड

अब तक की यात्रा

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

मेरा हृदय भूत काल मे है, शरीर वर्तमान काल मे है, और मेरी आत्मा भविष्य मे है। —एक दार्शनिक

विश्व राज्य, विश्व-संघ, विश्व-बंधुत्व और विश्व-शान्ति की बातें लोगो को निरी कपोल कल्पना मालूम होती हैं। इस पीढ़ी के आदमी एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके है। आदमी की बुद्धि, शक्ति, धन और समय सब का उपयोग हिंसक और नाशकारी कामों में हो रहा है। हम अपने भाई बन्धु और मित्रों की मौत की खबरें सुन रहे हैं, और अपने भोजन वस्त्र तक के अभाव का अनुभव कर रहे हैं। हजारों साल के घोर परिश्रम से बसाये हुए सुन्दर नगर, बाग, पुल और घाट बात की बात में श्मशान बन रहे हैं। दिन भर की मुसीबतें झेल कर जब हम रात को आराम करने जाते हैं, तब भी मन को शान्ति नहीं मिलती। कौन जाने, सबेरे का समाचारपत्र क्या खबर लाएगा; कल क्या होने वाला है, और अगर युद्ध बन्द ही हो गया, तो भी कौन आनन्द की वर्षा होने वाली है! यह मुहायुद्ध इतने बड़े पैमाने पर हुआ है, तो इस की परछांई भी लम्बी ही होने वाली

है; न जाने कितने वर्ष तक हमारा जीवन इसके असर में रहे। और, कहीं ऐसा न हो कि फिर अगले महायुद्ध की तैयारी होने लगे, फिर यही विध्वंस चक्र, फिर यही आसुरी लीला! इस तरह लोगों को न दिन चैन, न रात चैन। बीते कल के दुख को हम भूले नहीं, आज का दुख हमारे सामने है, और आने वाला कल भी अपनी नई नई चिन्ताओं का दृश्य उपस्थित कर रहा है। ऐसी हालत में हमारा विश्व-संघ कोरा आदर्शवाद समझा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु अगले पृष्ठो को पढ़ने से यह साफ हो जायगा कि हम इसे कोरी कल्पना या आदर्शवाद नहीं समझते। हम विश्व-संघ को, यानी संसार के सब राज्यों के आपस में मिलजुल कर शासन करने को, मानव समाज की अब तक की प्रगति का स्वाभाविक, तर्कसंगत और अनिवार्य परिणाम मानते हैं। परन्तु थोडी देर के लिये मान लो कि यह केवल एक कल्पना या स्वप्न ही है, तो भी क्या हर्ज है! क्या कल्पनाओं और स्वप्नो का मानव जीवन में कोई मूल्य नहीं है?

इमर्सन ने कहा है कि 'कल्पना शक्ति के बिना मानव समाज नष्ट हो जाता है।' दुनिया का हर बड़ा काम पहले कल्पना के रूप में ही जन्म लेता है। आज दिन समुद्र पर भारी-भारी जहाज तैरते हुए जाते है, इस की पहले कल्पना ही तो हुई थी। भाफ के जोर से चलने वाली रेल और मशीनें हज़ारों लाखों घोड़ो की ताकत से काम करती हैं, यह बात एक दिन केवल कल्पना ही ही तो थी। आदमी हवाई जहाज में बैठ कर पक्षियों की तरह उड रहा है, इसकी भी तो पहले कल्पना ही की गयी थी। रेगिस्तान में पानी की नहर बहेगी, गरम जलवायु वाले स्थानों में सर्द मुल्कों की चीजें पैदा होंगी, आदमी हज़ारों मील दूर की चीज़ देखने का यंत्र बनायेगा, ये सब बातें पहले पहल

कल्पना के संसार में ही थी। हज़ारों मील का समाचार बेतार के तार से हमे मिनटो मे मिल जायगा; नदी, पहाड़, और समुद्रों से परे दूर देशों के आदमियों की आपस मे इस तरह बातचीत हो सकेगी, जैसे दो आमने सामने खड़े हुए आदमियो की होती है। जिस आदमी को हमारी आंखे देख नहीं पातीं, उसका चित्र हमारे सामने आ जायगा, किसी भी प्राणी के शरीर के भीतर के अंगों की हालत हमें मालूम हो जायगी और हम उसी बिना पर उसकी चिकित्सा कर सकेंगे— ये सभी बातें किसी न किसी समय कल्पना रूप में रह चुकी हैं। कहां तक गिनावें, पाठक तनिक विचार करें, तो इसी तरह के जितने चाहे, उतने उदाहरण ले सकते है। आज दिन विश्व मे जितनी मानवी क्रियाएँ हो रही हैं, वे कभी न होने पातीं अगर कुछ लोग अपने मन में उनका चित्र न बनाते। उनकी कल्पनाओं ने ही संसार में कुछ का कुछ कर डाला है। जिन महानुभावो ने पहले पहल किसी महान विषय की कल्पना की, उन्हे पागल और शेखचिल्ली आदि की उपाधि मिली, परन्तु इतिहास गवाह है कि मानव समाज उन पागलों या शेखचिल्लियो का कितना ऋणी है।

यह ठीक है कि कुछ कल्पनाओं या विचारों के अमल मे आने के लिये बहुत समय लगता है। किसी को कुछ दिन या महीने लगते हैं तो किसी को सैकड़ों या हज़ारों साल लग जाते हैं। परन्तु इससे क्या! मानव समाज की आयु करोड़ों वर्ष की है और यह समाज अभी अनिश्चित काल तक रहने वाला है। इस लम्बे समय में हज़ार दो हज़ार वर्ष भी किस गिनती में हैं। निदान, कल्पना या विचार का बड़ा महत्व है, साधारण मनुष्य इसे जल्दी नहीं समझ पाता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

"अगर आप पहाड़ की गुफा में जाकर रहने लगेंगे तो भी आपकी विचार-धारा पर्वत के परकोटे को भेदकर बाहर निकल आवेगी। सम्भव है, वह धारा सैकड़ो वर्ष तक कोई आश्रय न पाकर सूक्ष्म और अदृष्टरूप से संसार मे घूमती रहे, लेकिन एक न एक दिन वह किसी मस्तिष्क का आश्रय लेगी ही। तब उस विचार-धारा के अनुसार काम शुरू होगा। निष्कपटता, पवित्र विचार और शुद्ध भावना इन मे असीम बल होता है।"

इसलिये यदि विश्व-संघ की चर्चा और इस विषय के आन्दोलन को कुछ सज्जन, जो अपने आपको व्यवहार-कुशल समझते हैं, कल्पना या स्वप्न मानते हैं, और 'अव्यावहारिक' कहते हैं तो इससे विश्व-संघ में श्रद्धा रखने वालों और उसके विनम्र सेवकों को न तो अप्रसन्न होने की ज़रूरत है, और न निराश होने की। किसी भी नयी चीज़ के लिए आन्दोलन करने वालों को ऐसी बातों के लिए सदा तैयार रहना चाहिये। वे यह जानते हैं कि "इस तरह के सभी आन्दोलनों को जिनसे हमारा सम्बन्ध है, अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पहले कई हालतों में से होकर गुज़रना पड़ता है। पहली हालत उपहास की है। उसके बाद आन्दोलन की गति के साथ साथ निन्दा की हालत आती है। इसके बाद प्रायः किसी अंश में स्वीकृति और उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी की हालत आती है। इसके साथ साथ चेतावनियाँ दी जाती हैं कि अंधेरे में लम्बी लम्बी कुदान न मारी जायँ। आख़िरी हालत आन्दोलन के अधिकांश रूप में स्वीकृति की है। और, तब आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि यह आन्दोलन पहले क्यों नहीं स्वीकार किया गया। ये भिन्न भिन्न स्थितियाँ एक दूसरे के साथ मिली हुई, चलती हैं, पर पहली और आख़िरी हालत में बहुत

अन्तर होता है।"*

इससे ज़ाहिर है कि कल्पनाओं या स्वप्नों को फ़जूल समझ कर उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये, उनमें बहुत शक्ति होती है; उनका संसार के निर्माण में बड़ा भाग रहता है। हाँ, यह ज़रूरी है कि कल्पना करने वाले, कल्पना से सहानुभूति रखने वाले और उसके कार्य-रूप में परिणत होने की इच्छा रखने वाले केवल कल्पना करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ बैठें, बल्कि उसकी साधना में तन मन से लग जायँ, विघ्न बाधाओं से न घबराते हुये और हमेशा आशावादी रहते हुए उसे सिद्ध करने में लगे रहें। हमारी कल्पना और इच्छा के साथ दृढ़ संकल्प और पूर्ण विश्वास होना चाहिये। हमें अपने उद्देश्य सिद्धि की ऐसी धुन होनी चाहिए कि दुनिया हमें उसके लिए पागल कह सके। ऐसा होने पर हमारी कल्पना अवश्य ही स्थूल रूप में आकर रहेगी, चाहे इस समय किसी को इसकी आशा हो या न हो।

जब कि कल्पनाओं और विचारों का इतना महत्व है, तो क्यों न हम उन्हें लिख कर रखें। जो बात हम चाहते हैं, जिस काम के पूरा होने के हम इच्छुक हैं, उसका साफ़-साफ़ रूप हमारे मन में हुए बिना काम न चलेगा, और साफ-साफ़ रूप देने के लिए उसका लिखा जाना बहुत उपयोगी और ज़रूरी है। लेख बद्ध होने पर दूसरों को उस पर ब्यौरेवार विचार करने का मौक़ा मिलेगा, वे उस में अपनी योग्यतानुसार आवश्यक संशोधन कर सकेंगे। साथ ही पाठकों के सामने कोई धुंधला चित्र न होकर एक सुनिश्चित योजना होगी, वे उसे हर समय मनन कर सकेंगे, और उसका दूसरों में प्रचार

* श्री० जार्ज यूल के एक भाषण से।

कर सकेंगे। जो बात आज मुट्ठी भर लोगों के ध्यान में है, वह अधिकाधिक जनता के सामने आयेगी, पहले सैकड़ों या हज़ारों और पीछे लाखों और करोड़ों आदमियों की सहानुभूति प्राप्त करेगी, उनके सहयोग से उसका आन्दोलन अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होगा, और अन्त मे उसका लक्ष्य पूरा होगा।

यहाँ तक हमने इस बात पर विचार किया है कि यदि विश्व-संघ केवल कल्पना का ही विषय हो तो भी उसका विवेचन और मनन करने की बहुत ज़रूरत है। परन्तु वास्तव में विश्व-संघ तर्कसिद्ध और मानवसमाज की प्रगति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य शुरू से ही समाज-प्रेमी है, उसे दूसरों के साथ मिलकर रहने की आदत है। वह परिवार में रहा, उसने क़बीले और जातियां बनायीं, गाँव और शहर बसाये। उस ज़माने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसने नगर-राज्यों से काम लिया। वह और आगे बढ़ा; राष्ट्र-राज्यो तक पहुँचा। उससे आगे कई-कई राष्ट्रो कों मिलाकर उसने आख़िर संघ-राज्यो और साम्राज्यो का प्रयोग किया। इस समय मानव संगठन के ये सब नमूने मौजूद हैं। पर मनुष्य अपनी हालत से संतुष्ट नहीं है। वह अनुभवकरता है कि उसकी यह लम्बी यात्रा अभी कुछ बाक़ी है, उसका गंतव्य स्थान, उसकी मंज़िलेमक़सूद दूर है, और उस तक पहुँचे बिना अभीष्ट सिद्ध न होगा। उसका लक्ष्य विश्व-संघ है। इन बातों पर आगे के अध्यायों में खुलासा विचार होगा।

मानव समाज का आगे का संगठन विश्व-संघ के रूप में होना चाहिए। और, हमारा निश्चित मत और दृढ़ विश्वास है कि मानव समाज अपने विचार और व्यवहार में उसी

ओर बढ़ता रहा है। उसकी चाल चाहे कितनी भी धीमी रही हो, वह उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता रहा है। अवश्य ही उसका मार्ग ज्यामिति की सीधी रेखा मे नहीं है। उसकी गति को साँप की चाल से उपमा दी जा सकती है, जो दायीं-बायीं ओर बल खाता हुआ चलता है, और कभी-कभी किसी बाधा के कारण रुकता सा भी नज़र आता है, लेकिन फिर भी अपने लक्ष्य की ओर चलता रहता है।

पूरे मानव समाज की गति का विचार करते हुए हमें चाहिए कि हम विशाल दृष्टिकोण से काम लें। देश काल की छोटी छोटी इकाइयों से काम नहीं चलेगा। एक साल या एक सदी मानव समाज की आयु में ऐसे ही है जैसे किसी आदमी के जीवन में एक दिन या एक महीना। किसी बालक की एक दिन या एक महीने की रिपोर्ट देख कर उसके भविष्य का हिसाब लगाना कभी-कभी बहुत ही भ्रममूलक हो सकता है। सम्भव है, उस दिन या उस महीने बालक कुछ अस्वस्थ रहा हो। अथवा, यह भी हो सकता है कि जिस बालक का हम विचार कर रहे है, वह नमूने का काम न दे सकता हो, यानी वह अपने वर्ग का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व न करता हो। इसलिए चाहे जिस बालक की एक या अधिक दिनों की दशा देख कर यह कह बैठना असंगत है कि बाल-समाज अपनी आयु बढ़ने के साथ-साथ कमज़ोर होता जाता है। इसी तरह मानव समाज की कुछ पीढ़ियों के इतिहास के आधार पर यह अनुमान करना भी ठीक नहीं कि वह प्रगति नहीं कर रहा है। यदि हम व्यापक दृष्टि से सिंहावलोकन करें तो हमें मालूम होजायगा कि मानव समाज निश्चित रूप से आगे बढ़ता रहा है।

इस पुस्तक के पहले खंड में इसी विषय पर विचार होगा।

दूसरे खंड में उन बाधाओ के बारे मे लिखा जायगा जो उस की भावी प्रगति में इस समय मौजूद हैं, और जिनको जान लेना, और हटाने की कोशिश करना, हमारा कर्तव्य है। अन्त में तीसरे खंड मे यह विचार किया जायगा कि हमारा लक्ष्य विश्व-संघ क्या है, उसकी स्थापना का आधार क्या होगा, उसकी संस्कृति, अर्थ-नीति, शासन-नीति आदि कैसी होगी, उस मे शान्ति का उपभोग कैसे किया जायगा, पाशविक हिन्सा का परित्याग कर, किस तरह मनुष्य मानवोचित अहिन्सा का व्यवहार करेगा। ऐसे विश्व-संघ का निर्माण पहले हम अपने हृदय और अन्तःकरण मे ही करें। इसके लिए कुछ चुने हुए राजनीतिज्ञो या कूटनीतिज्ञो की जरूरत न होगी, यह कार्य मुझे, आप को, हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार करना है, और अपना उदाहरण अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाना है। हमारे उत्तराधिकारी इस कार्य को कुछ और आगे बढ़ायेंगे, इस तरह मानव समाज आगे-आगे बढ़ता रहेगा, और विश्व-संघ की मंज़िलें तय होती जायेंगी।

दूसरा अध्याय

सामाजिक भावना

यह मेरा है, और यह पराया है, ऐसा विचार क्षुद्र हृदय वाले करते हैं। उदार लोगों के लिए तो सारी मानव जाति ही उनका कुटुम्ब है।

—*महाभारत*

आदमी सामाजिक प्राणी है, उसमें दूसरों के साथ मिल जुल कर रहने की भावना होती है। हम ज़रा यह विचार करें कि वह अकेला ही क्यो नहीं रहता। उसे सामाजिक जीवन क्यों पसन्द है ? और, उसकी सामाजिक भावना किस तरह बढ़ती रहती है।

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी में भी दो इच्छाएँ प्रबल होती हैं—(१) अपने आप को जीवित रखना, और इसलिए अपना भरण पोषण करना, और (२) अपने परिवार या नसल को बढ़ाना और उनकी हिफ़ाज़त करना। इन कामों के लिए ही मनुष्य को दूसरों के साथ मिलजुल कर समाज में रहने की ज़रूरत पडती है। मनुष्य को खाने पहनने के लिए भोजन वस्त्र चाहिए; सर्दी, गरमी और बारिश से बचने के लिए मकान चाहिए। कोई आदमी इन ज़रूरतों की पूर्ति अकेले रहकर नहीं कर सकता। मिसाल के तौर पर आदमी को भोजन के लिए अनाज चाहिए इसके वास्ते खेती करने की ज़रूरत होती है। परन्तु खेती के लिए हल आदि औज़ार चाहिए। अकेला आदमी स्वयं अपने लिए औज़ार नहीं बना सकता। उसे लोहे की ज़रूरत होगी। लोहा खान से निकालना पड़ेगा, फिर उसे गलाकर साफ़ करना होगा, तब उससे औज़ार बनेंगे। अकेले आदमी से यह सब काम नहीं हो सकता, और यदि करे भी तो इतने समय तक उसका निर्वाह कैसे हो। फिर औज़ार बनने से ही तो मतलब सिद्ध न होगा। खेती करने का काम तो बाक़ी ही रहेगा, जिस में दूसरे आदमियो की मदद की ज़रूरत है। खेती करने से भी भोजन एक दम नहीं मिल जायगा। फ़सल तैयार होने में कुछ समय लगेगा, फिर उसे काटना होगा, इसके बाद भी उसे खाने लायक़ बनाने में कई मंज़िलें तय करनी होंगी। हर मंज़िल पूरी करने

में समय, और दूसरों के सहयोग की ज़रूरत होती है। इस तरह यदि कोई आदमी अपने भोजन सम्बन्धी सब कामों को स्वयं करना चाहे तो उसे सैकड़ों काम करने पड़ें, तब कहीं भोजन तैयार हो। और, उस समय तक निराहार रहने से उस बेचारे के प्राण ही निकल जायँ! जैसी भोजन की बात है, ऐसी ही कपड़े, मकान आदि की है। किसी भी आदमी के लिए अकेले ही अपनी सब ज़रूरतों को पूरा करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। उसे पद पद पर दूसरों की मदद की ज़रूरत होती है। इसके अलावा जँगली जानवरो से अपनी और अपने बाल बच्चों की रक्षा करने के लिए भी आदमी को दूसरों का सहयोग चाहिए। इस तरह आदमी के लिये सामाजिक जीवन अनिवार्य है लाज़मी है।

(समाज मे भी आदमी पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसे दूसरों की सुविधा, असुविधा का ध्यान रखना होता है। उसकी स्वतन्त्रता की एक सीमा या मर्यादा रहती है। उसे कुछ नियमों का पालन करना होता है। परिवार मे इन नियमों का रूप स्पष्ट नहीं होता, और वे ठीक तरह से तय किये हुए नहीं रहते, फिर भी नियम रहते अवश्य हैं। जब मनुष्य का सम्बन्ध अपने परिवार के बाहर के आदमियों से होता है, जब उसका समाज बढ़ जाता है तो नियम अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित हो जाते हैं।)नियमों का मतलब है, आदमी की स्वच्छन्दता या स्वतंत्रता का नियंत्रण उस पर रोक थाम, अपने निजी स्वार्थ या लोभ पर अंकुश रखना दूसरों के हितों या सुविधाओं का ध्यान रखना।)इस तरह का नियम-पालन हमारे लिये हितकर ही होता है, मनुष्य में एक-से-एक अधिक बलवान होता है और यदि मैं स्वच्छन्दता पूर्वक दूसरों की चीज़ों पर ज़बरदस्ती अधिकार करके अपना स्वार्थ

सिद्ध करने लगूं तो जो मुझसे अधिक बलवान होगा, वह मेरा सर्वस्व छीन सकता है। इसकी नौबत न आने देने के लिए यह ज़रूरी है कि सब लोग अपनी अपनी स्वच्छन्दता पर कुछ रोक रखना मञ्जूर करें, हर आदमी दूसरों की सुविधा का ध्यान रखे, कोई किसी को कष्ट न दे, किसी के साथ अन्याय न करे। आदमी की यह भी इच्छा होती है कि दूसरो से सहानुभूति रखे और उनकी सहायता करे। ऐसा करने से उसे भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता पाने की आशा होती है। इस तरह सामाजिक भावना और निजी स्वार्थ दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

परन्तु इन दोनो में समय समय पर संघर्ष भी होता रहता है। ज्यों ज्यों आदमी में समझ आती जाती है, त्यों त्यों वह अपने स्वार्थ को सामाजिक भावना के अनुसार नियंत्रित करता जाता है, और जहाँ तक बन आवे, दोनों का समन्वय करने की कोशिश करता है। मानव समाज का इतिहास एक तरह से इसी कोशिश की लम्बी कहानी है। मनुष्य ने कई मञ्ज़िलें तय की है, उसकी यात्रा अभी ज़ारी है; स्वार्थ और सामाजिकता का संघर्ष अभी मिट नहीं गया है; कभी कभी तो इस संघर्ष का का बड़ा विकराल रूप सामने आ जाता है। फिर भी विवेकशील मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि जिस हद तक यह संघर्ष कम होगा, और समन्वय बढ़ेगा उसी हद तक मनुष्य की उन्नति मानी जायगी, शुरू में मनुष्य जाति हज़ारों बल्कि लाखों साल ऐसे बिता चुकी है, जब हर परिवार केवल अपने ही आदमियों का हित देखता था, और दूसरे परिवारों से लड़ता झगड़ता रहता था। उसके बाद थोड़े थोड़े परिवारों ने मिलकर रहना सीखा। धीरे धीरे ज्यादह बड़े गिरोह या क़िर्क़ें बने। इनमें एक गिरोह के सब लोगों ने आपस में प्रेम का व्यवहार करना

सीखा, पर दूसरे समूह के आदमियो को गैर और पराया समझा और उनसे उपेक्षा या शत्रुता का व्यवहार किया। कभी कभी दो कबीले इस लिये मिले, क्योकि उन्हे किसी तीसरे के हमले का डर था। इसी तरह कालान्तर में इन तीनो कबीलों ने बाक़ी के दूसरे कबीलों से अपनी रक्षा की।

आत्मरक्षा की भावना छोटे कबीलों को मिल जुल कर रहने, आपस मे मित्रता का व्यवहार करने और बड़े बड़े समूहों का निर्माण करने के लिये मजबूर करती है। एक खेड़े या गांव का दूसरे खेड़े या गांव से सम्बन्ध हो जाता है, इन दोनो का तीसरे से, और फिर इन तीनों का किसी चौथे से। इस तरह ये कबीले अधिकाधिक बड़े होते जाते है। हर एक कबीले वालों की, पास के दूसरे कबीले वालों से पानी के चश्मो, चरागाहो वगैरह के लिये लड़ाइयाँ होने लगती हैं। इन लड़ाइयों के लिये हर कबीले के अन्दर एक तरह के शासन और एक सरदार की ज़रूरत होती है। इसी से राजा और राज्य की बुनियादें पड़ती हैं। राजा का गांव धीरे धीरे कस्बा या नगर हो जाता है। हर राज्य के अन्दर वहां के नागरिकों के खास अधिकार माने जाते है। हर राज्य के नागरिक अपने राज्य के अन्दर रहने वालों को अपने समझते हैं, और दूसरे राज्य में रहने वालों को गैर और जँगली समझकर अकसर उनसे शत्रुता या दुशमनी करते हैं।

यद्यपि समय समय पर होने वाले इस तरह के संघर्षों और लड़ाई झगड़ों से स्पष्ट है कि मनुष्यों में संकीर्णता बनी हुई है, फिर भी आम तौर पर मनुष्य के अपने गिरोह या समाज का क्षेत्र धीरे धीरे बढ़ता ही रहा है। शुरू में उसके प्रेम और सहानुभति के अधिकारी इनेगिने लोग होते थे। बाद में वे बढ़ते गये।

प्रायःमनुष्य ने संसार को दो भागों मे बाँटा; एक भाग को उसने अपना समझा, और दूसरे को पराया या गैर। पहले भाग से उसने प्यार किया, उसके लिए कष्ट उठाया, ज़रूरत पड़ने पर वह उसके लिए अपनी जान न्यौछावर करने को तैयार रहा। मनुष्य के अपने संसार का यह भाग, धीरे धीरे बढ़ता रहने पर भी, अभी तक बाक़ी ससार की तुलना मे छोटा ही रहा। इस बड़े भाग को, जिसे उसने गैर समझा, कष्ट देने, छल कपट या बल से इसका माल हड़पने में मनुष्य को अब तक बहुत कम संकोच रहा है। फिर भी दूरदर्शी विचारवान लोगों को यह विश्वास है कि मनुष्य सदा संसार को इस तरह के दो भागों में—अपने और पराये में—नहीं बाँटता रहेगा। पिछले युगो में उसका अपना समझा जाने वाला ससार धीरे धीरे बढ़ता रहा है, और यह क्रम या सिलसिला अब भी जारी है। एक दिन ऐसा आएगा कि उसके इस अपने संसार की सीमा सम्पूर्ण संसार तक पहुँच जायगी, फिर पराया या गैर माना जाने वाला कोई भाग न रहेगा।

मनुष्य ने इस समय जो सामाजिक व्यवस्था मान रखी है, वह उसके अपने क्षेत्र के लिये अलग है, और दूसरे यानी गैरों के लिए अलग। अपने परिवार, समूह या कबीले, अपने ग्राम या नगर, अपने राष्ट्र या राज्य के लिएमनुष्य इस तरह के नियमों को स्वीकार करता है—सच बोलो, किसी की चोरी मत करो; किसी को मत सताओ, सबके हमारी सी जान है; सब से प्रेम और सहानुभूति रखो; जहाँ तक बन पड़े सब की सेवा और सहायता करो, ज़रूरत हो तो अपनी जान पर खेल कर भी इस कर्तव्य का पालन करो। कितने सुन्दर हैं ये नियम! अफ़सोस यही है कि ये बहुत छोटे क्षेत्र में बर्ते जाते हैं। इस क्षेत्र से बाहर संसार

के जिस भाग को हम पराया या गैर समझ रहे हैं, उसके लिये हमारे नियम सिद्धान्त में तो नहीं, पर व्यवहार में इस से बिल्कुल भिन्न होते है। उन्हें लिखकर निश्चित या स्पष्ट रूप बहुत कम दिया जाता है; प्रायः अपनी बदनामी के डर से कोई वैसा करने का साहस नहीं करता। यदि उन्हे मूर्त या साकार रूप दिया जाय तो कुछ इस तरह होगा—जिस चीज़ की हमें ज़रूरत है, उसे प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है, जैसे भी बने छीन झपट कर या लूट मार करके उसे ले लेना चाहिए। दूसरों को तकलीफ़ पहुँचाने से यहाँ तक कि ज़रूरत होने पर उनकी जान माल ले लेने से भी हमें संकोच नहीं करना चाहिए। गैरों से छल कपट करने में कोई दोष नहीं है, यह तो कूटनीति या होशियारी ही है। हमें अपने, और अपने बाल बच्चो, परिवार, नगर या राज्य के फायदे के लिये दूसरों से हिन्सा और घृणा के भाव रखना ज़रूरी है, इत्यादि।

समय समय पर साधु सतो, महात्माओं आदि ने यह उपदेश दिया है कि यह अपने पराये का भेद करना मनुष्य की अल्पज्ञता या मूर्खता है। यह पशुपन का व्यवहार है। मनुष्य को चाहिए कि इस पाशविक व्यवहार को छोड़ कर दैवी गुणों को—प्रेम, अहिन्सा, सेवा, सहयोग आदि को—अपने अन्दर धारण करे। उन्होने यह भी प्रचार किया कि समस्त सृष्टि का रचयिता एक परमपिता परमात्मा है; चाहे उसे कोई किसी भी नाम से पुकारे। सब उसी की संतान हैं, इसलिए सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। जो आदमी सब की सेवा और मदद करेगा, उससे परमात्मा प्रसन्न होगा, वह स्वर्ग में जायगा और जो कोई भेद-भाव या हिन्सा का आचरण करेगा वह नर्क में भेजा जायगा, जहाँ बहुत कष्ट मिलेंगे। इन साधु-स्वभाव महात्माओं ने जनता

की विचार-धारा का धरातल ऊंचा उठाने में विलक्षण कार्य किया है। फिर भी साधारण मनुष्यों के लिए अभीष्ट स्थान पर पहुँचना अभी भी कठिन मालूम हो रहा है। बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोगों ने इन धर्माचार्यों का भी बंटवारा कर लिया है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों से लड़ते झगड़ते हैं। सब ने अपना अलग अलग ईश्वर बना रखा है। हर एक के ईश्वर के अलग-अलग नाम है, और वह अलग-अलग तरह के पूजा पाठ से प्रसन्न होता है। हर समूह स्वर्ग को अपने लिए सुरक्षित समझता है। उसकी समझ से दूसरे सब धर्मवालों को केवल नरक में ही जगह मिलेगी।

इसी तरह समाजनीति में हम अपने और पराये के भेद को भुला नहीं सकें हैं। पहले, परिवारों का सगठन होने पर एक परिवार दूसरे परिवार से लड़ता भिड़ता था; नगर-राज्यों का निर्माण हो जाने पर एक नगर-राज्य की दूसरे नगर-राज्य से लड़ाई होती थी; राष्ट्र-राज्य कायम हो जाने पर अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों का एक दूसरे से संघर्ष होता है। सामाजिक भावना और अधिक विकसित होने पर संघ-राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु स्वार्थ भाव ने अब भी पीछा न छोड़ा। राष्ट्रों और संघ-राज्यों ने दूसरे प्रदेशों पर राजनैतिक और आर्थिक अधिकार जमा कर आज कल के नये साम्राज्यों की स्थापना की। इन साम्राज्यों में पहले तो सब भागों के स्वाधीन न होने के कारण स्वाधीन शासक राष्ट्रों और पराधीन शासित देशों में संघर्ष चलता रहता है; साम्राज्य के अन्दर ही कलह रहता है। दूसरे, यदि साम्राज्य के सब भाग स्वाधीन हो, यानी साम्राज्य 'कामन-वेल्थ' का रूप धारण कर ले तो भी उसके नागरिक, उसकी सीमा से बाहर रहने वालों को पराया या गैर समझते हैं।

इसलिये इन साम्राज्यों के युग में एक साम्राज्य का उसकी सीमा से बाहर के देशो से या दूसरे साम्राज्य से संघर्ष होना लाजमी है।

सारांश यह कि मनुष्य की सामाजिक भावना का साम्राज्य-स्थापना तक बढ़ आना मनुष्य की उन्नति को ज़रूर साबित करता है। पर इससे भी मनुष्य की सुख शान्ति की समस्या हल नहीं होती, क्योकि इस मे भी अपने और पराये का भेद तो रहता ही है; और यही सब झगड़े और सब दुखों की जड़ है। इसका अन्त करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि हम सब मनुष्य हैं; यह केवल संयोग की बात है कि हम में से किसी का जन्म भारतवर्ष में हुआ, किसी का जापान में, और किसी का इङ्गलैंड या जरमनी आदि में। भाषा या रंग का भेद अलग-अलग देशों और आबोहवा से होता है। आपस के सामाजिक व्यवहार में इन भेद-भावो को महत्व न देना चाहिए। हमारे सामाजिक कर्तव्य का आधार यह नियम होना चाहिए कि हमारे सब विचार और कार्य पूरी मानव जाति के सुख और उन्नति को बढ़ाने वाले हों; इसमें परिवार, वंश, जाति या राष्ट्रीयता का कोई पक्षपात न होना चाहिए। हम एक बहुत बड़ी वस्तु—मानव जाति—के नन्हे से अंग हैं। उस बड़े समाज को हमें अपनी दृष्टि से कभी ओझल न होने देना चाहिए।

इसलिए यह ज़रूरी है कि समाज-संगठन बड़े-से-बड़े आधार पर हो—राष्ट्र-निर्माण या संघ-राज्यों पर संतोष न किया जाय। हमें समस्त मानव समाज का एक और केवल एक "विश्व-संघ" बनाना होगा। जाति, रंग, सम्प्रदाय या देश किसी भी आधार पर किसी वर्ग, या समूह को उससे बाहर रखना अनिष्टकारी

होगा, वह हमारे छुटपन, हमारे अन्दर की कमी, हमारी अदूर-दर्शिता, अनुदारता और अयोग्यता का विज्ञापन होगा। आओ! ऐसा आयोजन करें कि काले, गोरे, हिन्दू, मुसलमान, पार्सी, यहूदी और ईसाई, हबशी या पीले सब भाई-भाई की तरह एक विशाल परिवार के सदस्यों की भांति प्रेम के साथ सहयोग और सहानुभूति पूर्वक रह सकें। हमारे इस प्रेम-मिलन से हम धन्य होंगे, और हमारी सब की माता, पृथ्वी माता धन्य होगी।

तीसरा अध्याय

परिवार

मानव जाति की सेवा के लिए परिवार तुम्हारा सब से छोटा कार्य-क्षेत्र है। इस में तुम, तुम्हारी पत्नि और तुम्हारे बच्चे होते हैं। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से परिवार समाज की स्वाभाविक इकाई है।

—हरदयाल

हम बतलाचुके हैं कि मनुष्यों में धीरे-धीरे सामाजिक भावना का विकास हुआ है। परिवार से शुरू करके आदमी अधिकाधिक बड़े संगठनों की ओर बढ़ता रहा है। इस समय संसार में छोटे-बड़े अनेक संगठन हैं। अब हम मुख्य मुख्य संगठनों में से हरेक के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। पहले हम परिवार को लेते हैं। यह समाज संगठन का सब से पहला और कुदरती स्वरूप है। परिवार में प्रायः एक पुरुष उसकी स्त्री और उसके बच्चे माने जाते हैं। पुरुष और स्त्री का एक

दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण होता है, उसका प्रत्यक्ष फल संतान है।

परिवार के रूप में समाज-संगठन जैसा इस समय है, ऐसा शुरू में नहीं था। बहुत पुराने ज़माने में स्त्री पुरुषों में विवाह-शादी करके टिकाऊ सम्बन्ध क़ायम करने का रिवाज नहीं था। बच्चे केवल मा के साथ रहते थे; उस समय परिवार का अर्थ था, मा और उसके बच्चे। पीछे जा कर, पिता भी परिवार का सदस्य होने लगा। कहीं-कहीं दो या अधिक भाई अपने-अपने स्त्री-बच्चों सहित एक साथ रहने लगे। इस दशा में बालक अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा चाची, ताऊ ताई आदि के साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। हमारे देश के आदमी इस से अच्छी तरह परिचित हैं।

परिवार दो तरह के होते हैं—एक, पितृ प्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और हर आदमी की जायदाद का उत्तराधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। दूसरे, मातृ प्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है; जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है, और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। परिवार किसी भी तरह का हो, वह सारे समाज का छोटा सा रूप है। उस से समाज का व्यापक रूप बनता और विकासित होता है। पुरुष स्त्री दोनों एक दूसरे की सहायता और सेवा करते हैं; और दोनों मिलकर अपने बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करते हैं।

परिवार आदमी को सामाजिकता की शिक्षा देने वाली एक प्रमुख संस्था है। इसमें पुरुष और स्त्री को यह मौक़ा मिलता है

कि एक दूसरे के लिए त्याग करना और कष्ट उठाना सीखे, हर व्यक्ति दूसरे के स्वभाव, आदर्श और रुचि के साथ अपने स्वभाव, आदर्श और रुचि का मेल बैठावे, सामंजस्य पैदा करे, और वह भी इस तरह कि एक दूसरे के विकास में सहायक हो, बाधक न हो। प्रेम चाहता है—सेवा, संयम, उदारता और त्याग। जब पुरुष-स्त्री एक दूसरे के लिए इन गुणों का अभ्यास करते हैं तो वे जीवन के व्यापक क्षेत्र में भी इन गुणों का परिचय देते हुए समाज के लिए अपनी उपयोगिता बढ़ाते हैं।

संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों उसकी ओर आकर्षित होते हैं; उसके हित में दोनो का हित, और उसके सुख में दोनो का सुख केन्द्रित होजाता है। यहाँ तक कि अनेक बार संतान के हित के लिए वे अपने सुख-दुख को बिल्कुल भूल जातेहैं। यदि यह भाव ठीक-ठीक बढ़ता जाय, जैसे हम अपने बच्चे को प्यार करते है, वैसे ही दूसरों के बच्चो को प्यार करें, यदि संसार के स्त्री-पुरुष जाति, धर्म, व्यवसाय, देश, रंग आदि के भेदो को भूलकर मानव संतान की सेवा-सुश्रुषा में लग जावें तो हमे पारिवारिक जीवन से मिलने वाली शिक्षा का असली और पूरा फल मिल जाय।

इसी तरह सन्तान की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हम अपने माता-पिता की संतान हैं। माता पिता ने हमारे पालन-पोषण के लिए जो कष्ट उठाए हैं, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि मा अनेक बार स्वयं सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि सहकर हमारे सुख सुविधा की चिन्ता न करती तो कौन जाने हमारी क्या गति होती; हम इतने बड़े हो भी पाते या नहीं। पिता ने हमारे वास्ते कितना परिश्रम किया है, इसकी मधुर स्मृति हृदय में रखने की चीज़ है। माता, पिता का हम पर कितना

ऋण है, यह तो केवल अनुभव का ही विषय है। बड़ा होने पर जब कोई खुद माता-पिता बनता है, तभी उसे इस बात का कुछ ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। निदान, माता पिता के प्रति हमारा एक महान कर्तव्य है, और यह कर्तव्य एक दरजे तक दूसरे सम्बन्धियों या रिश्तेदारों आदि के प्रति भी है, जिन्हों ने हमारे साथ बहुत स्नेह किया है, और जो हमारे हितैषी रहे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि सन्तान के जन्म से पहले ही बाप का, देहान्त हो जाता है, या जब बच्चा थोड़े दिन का होता है, मा चल बसती है, या वह ऐसी अस्वस्थ होती है कि बच्चे की सारसंभार तो क्या, उसे अपनी छाती से दूध भी नहीं पिला सकती। ऐसी हालत में निकट सम्बन्धी बच्चे का भरण पोषण करते हैं। यदि बालक को उनकी सहायता, प्रेम, और संरक्षण न मिले तो उसका जीना और बढ़ना कठिन हो जाय। फिर बड़े होने पर भी हमें उनसे कई तरह की मदद मिलती रहती है। सारांश यह कि हर आदमी खुद अपने साथ और दूसरों के साथ होने वाले व्यवहार से अच्छी तरह समझ सकता है कि आदमी अपने सगे सम्बन्धियों का कितना ऋणी होता है।

हमें चाहिए कि उन सब से प्रेम करें, और उनके अहसान-मन्द रहें; उनके साथ आदर सम्मान, दया और शिष्टाचार का व्यवहार करें। यदि वे ग़रीब हों तो उनको धन से मदद करें, यदि वे कमज़ोर या रोगी हों तो उनकी सेवा सुश्रुषा करें और उनके स्वास्थ्य और इलाज की व्यवस्था करें, हमेशा उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करें। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और हमें इसका ईमानदारी से पालन करना चाहिए। इस बात को पूरी तरह ध्यान में रखना है। साथ ही यह भी याद रखना है कि हमारे इस कर्तव्य की एक मर्यादा या सीमा है, जिसका

हमें उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

हमारा काम अपने मा-बाप से और जहां तक हो सके दूसरे सम्बन्धियो से प्रेम करना और उनकी सेवा करना है। इसका मतलब यह नहीं कि हम उनकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए मजबूर हैं। जब हम बड़े होजायँ, हमारी विवेक बुद्धि जाग जाय और हम भलेबुरे, पाप पुण्य को समझने लगें तो हमें किसी बात का निर्णय करने के वास्ते, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने के लिए अपने अन्तःकरण से काम लेना चाहिए; हमें अपने माता-पिता या किसी दूसरे के कहने पर भी आँख मीच कर नहीं चलना चाहिए। हर आदमी का अन्तःकरण अलग है। हमारा अन्तःकरण हमारी माता के या पिता के अन्तःकरण से पृथक है; हमें अपने अन्तःकरण की स्वतंत्रता की रक्षा करना ज़रूरी है।

अकसर जब कोई व्यक्ति बड़ा होने पर भी अपने माता पिता के साथ रहता है, खासकर भारतवर्ष और चीन में, जहाँ सयुक्त परिवार की प्रथा है, युवकों के व्यक्तित्व का ठीक-ठीक विकास नहीं होने पाता; वे बात-बात में यही चाहते हैं कि उनका कोई बड़ा बूढ़ा उन्हें रास्ता दिखावे, वे किसी भी विषय में अपनी आज़ाद राय नहीं रखते, और यदि रखते हैं तो उसे साफ़ ज़ाहिर नहीं करते, उनके मन में एक तरह की लज्जा, संकोच या हिचकिचाहट रहती है, उन्हें डर रहता है कि न जाने माता पिता की राय क्या हो, यदि हमने अपना मत पहले प्रगट कर दिया तो कहीं उनसे विरोध न हो जाय; ऐसी हालत में दूसरे आदमी हमें ही दोष देंगे। इसलिए वे चुपचाप माता पिता या दूसरे बड़े बूढ़ों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। अनेक बार यह देखने में आया है कि किसी युवक की, कुछ रीति रिवाजों या

रूढ़ियों में कोई श्रद्धा नहीं है, वह उन्हें व्यर्थ ही नहीं, हानिकर मानता है, फिर भी उनका पालन वह केवल इसलिए करता है कि ऐसा न करे तो माता पिता बुरा मानेंगे। पिछले दिनों इस देश में कितने ही युवक ऐसे पाये गये हैं, जो केवल शुद्ध खादी पहिनना, देश की आजादी के आन्दोलन मे क्रियात्मक भाग लेना, और पर्दा प्रथा, मरणोत्तर जाति-भोज (औसर, मौसर) आदि का त्याग करना चाहते है। वे कहते है, क्या करें लाचार हैं, बुढ़ा या बुढ़िया यानी बाप मा बैठे हैं, तब तक हम ये बातें नहीं कर सकते; उनका शरीर पूरा हो जाने पर हम स्वतंत्रहोगे।

यद्यपि कुछ सुन्दर अपवाद भी मिलते हैं, पर आम तौर पर रूढ़ियो के मामले मे बड़े बूढ़ो का मत और उनकी विचार-धारा युवको से भिन्न होती है, और वे अपने दृष्टिकोण को उचित से अधिक महत्व देते हैं, और युवको से आशा करते है हैं कि वे हमारे विचार के अनुसार ही सब काम करें। यह ठीक है कि उनकी उम्र अधिक होने के कारण उनका अनुभव दीर्घ काल का है, परन्तु जमाने के साथ साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती है, हर पीढ़ी की समस्याएँ अलग-अलग होती है। मनुष्य जाति के सामने नए आदर्श नए सिद्धान्त और नयी विचार-धाराएँ आती रहती हैं। जिस बात को हमारी पीढ़ी बहुत अच्छा समझती है, और बडी बुद्धिमानी और घोर परिश्रम का फल मानती है, उसी बात को अगली पीढ़ी सम्भव है निकृष्ट और गयी गुज़री माने। यदि सब बच्चे हर बात में अपने माता पिता काही अनुकरण करते रहे तो मानव जाति की उन्नति ही कैसे हो ? समाज जहाँ का तहाँ रहे।

जल का प्रवाह बन्द हो जाने पर वह सड़ जाता है। मानव समाज को भी ऐसे दुर्भाग्य से बचाने की बड़ी ज़रूरत है। यदि

गौतम बुद्ध अपने माता पिता की इच्छानुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते तो संसार उनके महान उपदेशों से वंचित रह जाता। कार्ल मार्क्स का पिता चाहता था कि उसका पुत्र ऐसे विषयों के पढ़ने में लगे, जिनसे खूब धन कमा सके, उसकी दृष्टि से समाजवाद आदि की खोज और चिन्तन में लगना व्यर्थ और बेकार था, परन्तु कार्लमार्क्स ने अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया, उसने समाज को धन से कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु दी; और अपने साथ अपने पिता का नाम भी चिरस्मरणीय बना दिया।

युवावस्था नयी नयी बातों के सोचने वाली, आशावादी, साहस वाली, जोखम उठाने वाली, गलतियों से न घबराने वाली, और आगे बढ़ते रहने वाली होती है; इसके विपरीत, बूढ़े आदमी आम तौर पर पुरानी बातो में लगे रहते हैं; फूँक फूँक कर पाँव रखते हैं, कठिनाइयो से बचते हैं, पुराने ज़माने की रूढ़ियों और रीति रस्मो से चिपटे रहते हैं, नया प्रयोग करने का उत्साह नहीं रखते; वे अपने पुराने अनुभवों का गर्व करतेहैं, और अच्छे से अच्छे नवयुवकों का व्यवहार देखकर भविष्य के प्रति अश्रद्धा और आशंका प्रकट किया करते हैं। जब तक दोनो पक्ष काफ़ी गम्भीरता और समझदारी से काम न लें उनमें संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिये लाला हरदयाल का मत है कि युवक हो जाने पर हर पुरुष और स्त्री को, चाहे वह अविवाहित ही क्यों न हो, अपने माता पिता आदि बड़े बूढ़ों से पृथक् घर बसा कर स्वतन्त्र रूप से रहना चाहिए; भविष्य को भूत के साथ, आशा को निराशा के साथ या जीवित को मृतक के साथ बाँधे रखना ठीक नहीं।

इस विषय में मतभेद की बहुत गुँजायश है; हमें लाला

हरदयाल के कथन में अत्युक्ति मालूम होती है और अव्यवहारिकता भी। तनिक विचार कीजिये; लड़की का प्रायः चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में, और लड़के का बाईस चौबीस वर्ष की उम्र में विवाह हो जाता है। इतनी उम्र तक वे शिक्षा पाने में लगे रहते हैं। ज्यों ही लड़का कालिज से छुट्टी पाकर अपनी जीविका कमाने में लगे, उसे दुनिया का यथेष्ट अनुभव नहीं हो जाता। लड़की घर के काम धन्धे की कुछ जानकारी भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिये उसमे जैसी योग्यता चाहिए वह एकदम नहीं आ सकती। ऐसी दशा में यदि यह नवदम्पति अपना अलग परिवार बना कर रहें तो उनका मार्ग बहुत कष्टदायक होगा। अभी उन्हें अपने बड़ों के संरक्षण की ज़रूरत है। स्वय उनके विवाहित जीवन के लिए भी यह अच्छा है कि वे बिल्कुल स्वच्छन्द न रहे। योग्य माता पिता और सास ससुर के मर्यादित नियंत्रण में वर बधु के आपसी विरोध का अवसर कम आता है, और वे अपने आप को एक दूसरे के अधिक अनुकूल बना सकते हैं। इसके अलावा बीमारी की हालत में उन्हें अनुभवी आदमियों की ज़रूरत हो सकती है।

यदि संयोग से वे अपने परिचित जनों से दूर किसी दूसरे स्थान में रहते हों, और युवक कहीं आफ़िस आदि में काम करता हो तो नवबधु की बीमारी कितनी कष्टदायक हो जाती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर माता पिता या सास ससुर के साथ रहने से कितना आराम और सुविधा मिल सकती है। सम्भव है, यह कहा जाय कि युवक युवति की अपेक्षा मा बाप के बीमार रहने की सम्भावना अधिक है; इस तरह उनसे जितना आराम मिलेगा, उससे

ज्यादह हमें उनकी सेवा करनी होगी। लेकिन यह भी तो एक कारण है कि हमें जहाँ तक हो सके अपने माता पिता के पास रहना चाहिए। जब तक हम असहाय और दूसरों के मोहताज थे, तब तक तो हम उनके आसरे रहे, अब जब हम किसी क़ाबिल हुए और उन्हें हमारी मदद की ज़रूरत हुई तो हम उन्हे अकेला छोड़कर अलग रहने लगें, यह कहाँ की भलमनसाहत है। यह हमारी ख़ुदग़रज़ी और कृतघ्नता ही होगी। ऐसी ग़लत और कमज़ोर बुनियाद पर मानव समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। हमे तो कृतज्ञता, निस्वार्थता, सेवा और त्याग की मिसाल क़ायम करनी है। इन बातों का मौक़ा हमें सब से पहले पारिवारिक जीवन में मिलता है, उसका हमें अपनी शक्ति भर उपयोग करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि माता पिता की दृष्टि भूतकाल की ओर रहती है, और युवकों की भविष्य की ओर। परन्तु क्या इन दोनों के मेल और समन्वय की ज़रूरत नहीं है ? केवल भूत काल की बातों से हमारा गुज़ारा नहीं हो सकता, और केवल भविष्य की बातों में भी हमें लीन न हो जाना चाहिए। हमें वर्तमान काल को संभालना है, जो भूत और भविष्य दोनों का संधिकाल, दोनों के मिलने की जगह है। इसलिए बेहतर है कि हम माता-पिता के साथ रहते हुए उनके भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठावें। हाँ, माता पिता आदि का भी कर्तव्य है कि वे युवकों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करते रहें और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्यान रखें। जब तक कोई ख़ास ज़रूरत तथा कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो तब तक वे उनके काम-काज में फ़जूल दखल न दें। इस तरह प्रेम और समझ से काम लिया जावे तो युवकों और बड़े-बूढ़ों में मतभेद की दीवार बहुत चौडी

नहीं होने पाती।* हम यह भी याद रखें कि बड़ी उम्र का अर्थ सदैव बुढ़ापा नहीं होता। प्रौढ़ आयु के बहुत से सज्जनों में युवकों से बढ़कर उत्साह, साहस, आशा और नवीनता का आदर पाया जाता है। वे 'साठा सो पाठा' की कहावत चरितार्थ करते हैं। इसके विपरीत, कितने ही युवक, अपनी भरी जवानी की उम्र मे भी बुढ़ापे का भार ढोये फिरते हैं; उनमें निरुत्साह, निराशा और निस्तेजता का दुखदायी समावेश होता है।

इस प्रसंग में प्राचीन भारतीय प्रथा का विचार करना उपयोगी होगा। यहाँ पुराने जमाने में आश्रम व्यवस्था चलती थी। उसके अनुसार आदमी पच्चीस वर्ष की आयु तक विद्या उपार्जन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, और जब उसके बड़े लड़के का विवाह होकर उसके सन्तान हो जाती थी, यानी करीब पचपन वर्ष की उम्र में वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेता था। इस तरह उसकी सन्तान अपना काम चलाने में स्वतंत्र हो जाती थी, उस पर माता पिता के विचारों का प्रतिबन्ध नहीं रहता था। बुढ़ापा और यौवन अलग-अलग हो जाते थे। बूढ़े लोग घूमते फिरते थे और गृहस्थों को उपदेश देकर उनका पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करते थे। परन्तु समाज का काम

---

*जब किसी युवक को यह अनुभव हो कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना उसके अन्तकरण के आदेश के विरुद्ध है, तो वह उसे पालन न करे, और यदि ऐसे प्रसंग बार-बार आने से परस्पर में कटुता आने की आशंका है, तो युवक का उनसे अलग रहना ठीक ही है। परन्तु यह विशेष दशा की ही बात है, साधारण नहीं। माता-पिता से सिद्धान्तों में मतभेद होते हुए भी युवकों को उनके प्रति आदर-भाव रखना आवश्यक है।

चलाने वाले युवक और युवतियाँ (गृहस्थ) ही होते थे, जो गृहस्थ आश्रम का शुरू का कुछ समय (दो चार वर्ष) अपने पिता माता के संरक्षण में रहने कारण कुछ सांसारिक अनुभव प्राप्त कर चुकते थे।

इस तरह यह आवश्यक है कि एक दरजे तक युवकों के मत-स्वातंत्र्य का आदर किया जाना चाहिए। समाज सेवा के विशाल क्षेत्र में अपने महान कर्तव्य का पालन करने के लिये वे सदा स्वाधीन रहें; हाँ ऐसा करते समय वे न तो विनय और शिष्टाचार को तिलाञ्जलि दें, और न उस ऋण को भूलें, जो उन्हें माता पिता आदि के प्रति प्रेम और सेवा करके चुकाना है।

यह स्पष्ट है कि परिवार हमारे सामाजिक संगठन की पहली और आवश्यक सीढ़ी है। किन्तु कुछ दशाओं में यह आगे की सीढ़ियों के लिये बाधक भी हो सकता है, और हो जाता है। इस विषय का विचार आगे दूसरे खंड में किया जायगा।

—०—

चौथा अध्याय

कबीला और जाति

पिछले अध्याय में परिवार के बारे में लिखा गया है। वह समाज का एक छोटा सा स्वरूप है। पुराने जमाने में जो परिवार एक ही पूर्वज की सन्तान होते थे, या अपने आपको ऐसा समझते थे, वे प्रायः पास-पास ही रहते थे। अब भी गावों में खासकर जहाँ रेगिस्तान या पहाडी या जँगली प्रदेश है और आने जाने के साधन कम हैं, वहाँ निकट सम्बन्ध वाले परिवार

अकसर इकट्ठे एक ही जगह रहते है। परिवारों से बड़े संगठन को कुल, कबीला, या बिरादरी या गोत्र कहते हैं।* एक कुल के सब आदमियों में रहन-सहन खान-पान और रीति-रिवाज की बहुत समानता होती है। वे आपस मे अपनेपन का अनुभव करते, और खान-पान विवाह शादी यानी रोटी बेटी का घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। उनमे जो बड़ा बूढ़ा होता है, वह सबका मुखिया या चौधरी माना जाता है।

कबीले में परिवार के वे खास-खास लक्षण पाये जाते है, जिनका ज़िक्र हम पिछले अध्याय मे कर आये हैं। एक परिवार का उसके पास में रहने वाले दूसरे परिवार से बैर विरोध न हो, इसका उपाय यही है कि पास-पास रहने वाले परिवार मिल कर एक कुल या कबीला बना कर रहने लगें। यदि कबीले मे किसी आदमी का दूसरे आदमी से मतभेद होता है तो मुखिया उसे शीघ्र निपटा देता है, बैर-विरोध ज्यादा बढ़ने नहीं पाता, लड़ाई झगड़े की नौबत नहीं आती। इस तरह यह संगठन एक दरजे तक लोगो की रक्षा में सहायक होता है। यह अपने सब आदमियो की तरक्की और बेहतरी की कोशिश करता है। यदि दूसरे बाहर के आदमी इसके आदमियों को किसी तरह सताने या नुकसान पहुँचाने लगते हैं, तो यह उनका सामना करता है। उसका यह काम एक हद के अन्दर सारे समाज के भले के लिए ही होता है, परन्तु उसका क्षेत्र परिमित है। वह इस हद से बाहर के आदमियों के दुःख सुख की परवाह

*आजकल प्रायः एक कबीले में कई-कई परिवार होते हैं, कबीला कई परिवारों का बना होता है, परन्तु पुराने ज़माने में कहीं-कहीं पहले एक कबीला रहा और बाद में इससे कई परिवार बन गये।

नहीं करता; यही नहीं, अपने आदमी के सुख या स्वार्थ के लिए वह गैर या पराये आदमी को कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में कुछ संकोच नहीं करता, बल्कि ऐसा करने में एक तरह का गर्व अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि जहाँ एक कबीले के लोगों मे परस्पर ऐसा प्रेम होता है कि उसे एक परिवार के आदमियों के आपसी प्रेम से उपमा दी जा सकती है, वहाँ एक कबीले के आदमी दूसरे कबीले वालों से उस 'सौतेली मा' का सा व्यवहार करने लगते हैं, जो अज्ञान या मोहवश अपने ही बालक को चाहती है, और जिसे दूसरी मा का बालक फूटी आँख नहीं सुहाता।

कबीलों की आपसी ईर्षा और लड़ाई वर्षों और कभी-कभी पीढ़ियो तक चलती रहती है। अन्त में कभी उनमे से एक दूसरे को जीत लेता है, और कभी दोनो मे मेल या संधि हो जाती है। इस तरह दो या अधिक कबीले मिल कर एक जगह रहने लगते हैं; उनके शासन या नियंत्रण का काम उनके मुखियाओं की कमेटी या पंचायत करने लगती है। धीरे-धीरे कई कबीलों के लोग बहुत समय तक पास-पास रहने के कारण आपस में इतने हिल-मिल जाते हैं, उनकी भाषा, रहन-सहन, सभ्यता, धर्म, परम्परा आदि में इतनी समानता आ जाती है कि उन सब को एक ही समूह या एक ही जाति समझा जाता है।

जाति या नसल का मूल आधार वर्ण या रङ्ग है। भारतवर्ष में जाति-भेद को वर्ण व्यवस्था ही कहा जाता है। सिद्धान्त से यहाँ जाति के आधार जन्म और कर्म दोनों माने जाते हैं। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था को भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों का समर्थन प्राप्त है, जो संसार के सबसे प्राचीन साहित्य का भाग है। परन्तु जानकारों का मत है कि वेदों

में केवल दो ही वर्ण बताये गये हैं—आर्य और दस्यु। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, सदाचारी; और दस्यु का अर्थ है दुष्ट, दुराचारी। इस तरह समाज का यह विभाजन असल मे गुण कर्मानुसार ही है। वेदो ने वृत्ति या पेशे के आधार पर मानव समाज को चार हिस्सों में बांट दिया है, अर्थात् धार्मिक वृत्ति वालों को ब्राह्मण, राजनैतिक वृत्ति वालो को क्षत्री, व्यावसायिक वृत्ति वालों को वैश्य और मेहनत मजदूरी करने वालो को शूद्र कहा है। इसमे श्रम विभाजन के साथ एक दूसरे से पूरे सहयोग का भी विधान किया गया है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख, क्षत्री को भुजा, वैश्य को जाँघ, और शूद्र को पैर बताने का अर्थ यह है कि ये सब समूह मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अंग हैं। इन अंगो में छोटे बड़े या ऊँच नीच का भाव नहीं, हर एक को दूसरे से सहानुभूति और सद्भाव रखना होता है; अपने अपने स्वार्थ का ध्यान रखने से सभी का अहित होगा। मिसाल के तौर पर यदि पैर में कांटा लगने पर माथा उसकी चिन्ता न करे, आँख उसे न देखे, हाथ उसे न निकाले तो सारे शरीर को कष्ट रहेगा। यह सिद्धाँत समाज-संचालन के लिये उपयोगी है, इसमे किसी को संदेह नहीं हो सकता।

मनुष्यो में श्रम या कर्म विभाग स्वाभाविक है। किसी आदमी की प्रवृत्ति एक तरह के काम की ओर होती है, किसी की दूसरी तरह के काम की ओर। आम तौर पर मुख्य प्रवृत्तियाँ चार हैं—बुद्धि प्रधान, तेज प्रधान, वासना प्रधान और सेवा प्रधान। अँगरेज़ी लेखकों ने चार मकारों से इन्हे ज़ाहिर किया है, मिश्नरी (पादरी), मिलीटरी (सैनिक), मर्चेंट्स (व्यापारी), और मीनियल्स (सेवक)। इसलिये भारतवर्ष में शुरू में समाज के चार भाग (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र)

या। उसे
माने गये, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुख का विषय तो देने का,
बाद में इन चार की संख्या बराबर बढ़ती ही गयी। अ) का
से हरेक के अन्तर्गत सैकड़ों छोटी बड़ी शाखाएँ हैं। फ़िर पकी
प्रान्तीय भेद भी माना जाता है। एक ही जाति के आदमी का
निवास की भिन्नता के कारण आपने अपको अलग अलग
समझते हैं। जाति के इन भागों यानी उपजातियो ने जातियों का नाम धारण कर रखा है। इनमें कितनी ही जातियों के परिवारों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। बहुत से आदमियों का मेलजोल रहन-सहन; खान-पान, विवाह सम्बंध आदि अपने अपने संकुचित क्षे में ही होता रहता है।

इस तरह आम लोगों के विचार और काम का केन्द्र बहुत ही परिमित हो गया है। हर आदमी अपनी ही जाति का भला सोचता है। दूसरी जाति वालों की उसे कुछ चिन्ता नहीं। हर जाति के आदमी अपनी जाति की संस्थाएँ स्कूल, वाचनालय, छात्रालय (बोर्डिंग हाउस) कारखाने आदि खोलकर अपनी-अपनी जाति वालों के लिए शिक्षा, आजीविका या व्यापार आदि की सुविधाएँ करते हैं, उनके लिए राजनैतिक अधिकार या संरक्षण माँगते हैं, चाहे उनके इन कामों से दूसरी जाति वालों का कितना ही नुकसान क्यों न हो। ये सब जातियाँ अपने सदस्यों के सामने तुच्छता और क्षुद्रता का उदारहण पेश करती हैं। देश या समाज के बड़े हित की उपेक्षा करके, इनका अपना स्वार्थ सिद्ध करना सर्वथा निन्द्य और अनुचित है। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को अपनेपन का भाव अपनी स्त्री और बच्चों तक सीमित न रखना चाहिए। उसी तरह उसे कबीले या जाति की सीमा से भी आगे बढ़ना चाहिए।

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

गाँव और नगर

अगर कोई आदमी केवल एक ही गाँव को नमूने का गाँव बना सके तो वह भारतवर्ष के लिए ही नहीं, शायद सारी दुनिया के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

—म० गांधी

जिस तरह घर तुम्हारी घरेलू प्रवृत्तियों का क्षेत्र है, उसी तरह गाँव या नगर तुम्हारी राजनैतिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र है। वास्तव में नागरिकता का पवित्र बन्धन ही तुम्हें सभ्य मनुष्यों की श्रेणी में रख देता है। तुम्हें अच्छा नागरिक होना चाहिए। नागरिकता की भावना के बिना नीतिशास्त्र बेमतलब की चीज़ है। *—हरदयाल*

पिछले अध्यायों में हमने मनुष्यों के ऐसे संगठनो के बारे में विचार किया है, जिनका आधार या तो जन्म यानी वंश है, या धर्म है। अब हम स्थान या जगह की दृष्टि से विचार करते हैं। आजकल आदमी किसी-न-किसी गाँव या नगर में रहते हैं। हमने उस युग को पीछे छोड़ दिया है, जब आदमी जंगल में खुदरौ (स्वयं पैदा होनेवाले) फलों पर पर गुजारा करता था या शिकार करके अपना पेट भरता था। उस हालत में आदमी अपने फलहार या शिकार की खोज में फिरता रहता था; आज यहाँ, कल वहाँ। उसका कोई निश्चित ठौर ठिकाना न था। फिर जब वह खेती करने लगा तो उसकी आवरागर्दी कम हो गयी।

अब उसका अपने खेत के पास रहना जरूरी हो गया। उसे जमीन तैयार करने और जोतने, फिर बीज बोने, पानी देने का, और निराई (खेत में से फ़ालतू घास फूस निकाल देने) का काम करना था। उसके बाद फसल पकने तक जानवरों से उसकी रक्षा करना था, बाद मे फसल काटने और उसे घर लाने का काम था। इस तरह आदमी बहुत दिनों तक दूसरे स्थानों मे नहीं जा सकता था। खेती ने उसे एक ही जगह रहने पर मजबूर कर दिया। खेती करने वालों को एक दूसरे की मदद की भी ज़रूरत रहती है। खेती मे काम आने वाले पशुओ को चराने और उनकी देख भाल करने, फसल की रक्षा करने और पकने पर उसे काटने आदि का काम एक ही आदमी नहीं कर सकता। इन कामो में एक दूसरे को मदद देने के लिए कुछ आदमियों को मिल कर एक जगह रहना होता है। फिर, खेती के तरह तरह के औजार बनाने और उनकी मरम्मत करने वाले भी नजदीक मे ही रहने चाहिएँ। इस तरह धीरे-धीरे कुछ आदमी इकट्ठे और स्थायी रूप से एक ही जगह घर बना कर रहने लगते है। उनकी बस्ती को खेड़ा या गाँव कहते हैं।

जब आदमी स्थायी रूप से एक जगह रहने लग गये तो उस बस्ती से उनका गहरा सम्बन्ध हो गया। उसे जहाँ तक हो सके साफ सुन्दर, उपजाऊ और स्वस्थ बनाने की तरफ ध्यान जाने लगा। ऐसा करने मे वहाँ के सभी आदमियो का लाभ है। पारस्परिक सहयोग से काम अच्छा होता है। एक गाँव या नगर के आदमियों को अपने तरह-तरह के कामो मे एक दूसरे की मदद की ज़रूरत होती है। इस तरह धीरे-धीरे सार्वजनिक भावना पैदा होती और बढ़ती जाती है। यह सहयोग और सहायता की बात सभ्यता के उस शुरू जमाने से ही चली आ

रही है, जब से आदमी खेती करने लगे। खेती का धंधा ही ऐसा होता है, जिसे कोई आदमी अकेला केवल अपने बल पर नहीं कर सकता। पीछे, ज्यो-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती गयी सहयोग की भावना बढ़ती गयी, अथवा यह कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता का इतिहास ही सहयोग की वृद्धि का इतिहास है।

गाँव (कस्बा या नगर) हमारा 'राजनैतिक घर' है। यहाँ रहनेवाले सब मनुष्यों और स्त्रियों से हमारा एक तरह का राजनैतिक सम्बन्ध है। हर आदमी जो हमारे गाँव (या नगर) मे रहता है, हमारा नागरिक भाई है। हमारा यह निवास स्थान हमारा असली कार्यक्षेत्र है। इसकी गली-गली से हम परिचित हैं, यहाँ के नदी नाले, टीले, खेत, जंगल और चरागाहों से हमे प्यार है। क्यों न हो, यहाँ की मिट्टी और जल से हमारा भरण-पोषण हुआ है। यहाँ की तरक्की और सुधार करना और अपने नागरिक भाइयों के प्रति सहयोग की भावना रखना हमारा परम कर्तव्य है। यह हमारी सभ्यता की कसौटी है। इसमें सन्देह नहीं कि हमें अपने राज्य या राष्ट्र के नागरिक कहा जाता है, परन्तु राज्य और राष्ट्र इतने बड़े होते हैं कि उनके पूरे रूप से हमारी घनिष्ठता नहीं होती। उनके विषय मे विचार आगे किया जायगा। यहाँ गाँवों की बात लेते है।

हर गाँव का आकार प्रकार और आमदनी ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ शिक्षा स्वास्थ्य आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो सके। भारतवर्ष में अनेक बस्तियां ऐसी हैं, जिनमें घरों की तादाद पूरी बस्ती में एक दर्जन भी नहीं है। और ऐसे गाँव तो सैकड़ों या हज़ारों ही नहीं, लाखों हैं, जहाँ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक पाठशाला तक नहीं; बीमारों को दवाई देने वाला कोई

वैद्य नहीं; स्वास्थ्य सम्बन्धी दूसरी बातो का तो कहना ही क्या, जहाँ पीने के लिए साफ़ पानी का भी प्रबन्ध नहीं। लोगों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन वस्त्र के अलावा हर गाँव मे माध्यमिक पाठशाला, साधारण दवाखाना, वाचनालय, पुस्तकालय, रोशनी का प्रबन्ध, गन्दे पानी के बहाव के लिए नालियों, और बरसात मे भी अच्छी तरह काम आनेवाली सड़को की ज़रूरत है।

खेती की ज़मीन दूर-दूर बिखरी हुई होने से कितनी हानि है, और चकबन्दी की कितनी ज़रूरत है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। ये सब बातें ख़ासकर भारतवर्ष को नज़र में रखकर कही गयी है, परन्तु कई दूसरे देशो के सम्बन्ध में भी ठीक हैं। आजकल शिक्षित और सम्पन्न लोग शहरों की तरफ दौड़ रहे हैं। सभ्यता नगरो में केन्द्रित होती जा रही है। गाँवों की तरफ से प्रायः बेपरवाही हो रही है। वहाँ आदमी ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नहीं पाते; दरिद्रता का तांडव नृत्य है। कूड़े कचरे के ढेर और गन्दी आबोहवा में मनुष्यों का दम घुटता है, वे रोगी और अल्पायु होते हैं, तिस पर भी एशिया और अफ्रीका मे गाँव के रहनेवालो की तादाद ज्यादह होने से संसार की अधिकांश जनता गाँवो मे ही जीवन व्यतीत करती है। गाँवों की दुर्दशा मानवता के लिए एक कलंक है, इसका अन्त जल्दी से जल्दी किया जाना चाहिए।

गाँवो के लिए जिन-जिन ज़रूरतो का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनका पूरा होना गाँवो की जनता के बहुत छोटे-छोटे भागों में बटे और बिखरे हुए होने की हालत में मुमकिन नहीं है। बहुत छोटे-छोटे खेड़ों में अलग-अलग स्कूल और अस्पताल आदि कैसे कायम किये जा सकते हैं! और यदि किये भी जाँय तो इन पर कितना अधिक धन ख़र्च करना पड़े! इसलिये छोटे छोटे गाँवो

के समूह बना देने चाहिएँ, जिससे हर ग्राम-समूह अपनी मामूली ज़रूरतों के लिये बाहर के गाँवों के आश्रित न रहे। इस तरह का ग्राम-समूह करीब दो तीन मील लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा हो; उसकी आबादी लगभग डेढ़ दो हज़ार हो सकती है। आने जाने के साधन की उन्नति होने पर यह क्षेत्र कुछ बढ़ सकता है, पर बहुत अधिक बढ़ाना ठीक नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ग्राम-सुधार का काम बहुत बड़ा है। इसे ठीक ठीक करने के लिये बहुत धन चाहिए; वह कहाँ से आवे? इस बारे में नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। राज्य की कुल आमदनी कितनी है, और आबादी कितनी है। इस तरह हर हज़ार आदमी पीछे कितना औसत खर्च किया जा सकता है। हर ग्राम या ग्राम-समूह के लिये खर्च का अन्दाज़ा करते समय जहाँ तक हो सके इस औसत का ख्याल रखा जाय। विशेष हालतों में एक क्षेत्र के लिये औसत से कुछ कम ज्यादह भी खर्च कर सकते हैं। गाँव की और शहर की जनता में इस समय जो बहुत ज्यादह भेद भाव रखा जाता है, और गाँववालों से जो सौतेली माँ का सा व्यवहार होता है, वह सर्वथा अनुचित है।

जो लोग शहरों में रहते आये हैं, या दूसरों की ही सभ्यता को सभ्यता मानते हैं, उन्हें यह बात रुचेगी नहीं। लोगों की यह धारणा बन गई है कि नगर तो विद्या, सभ्यता, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के केन्द्र होने ही चाहिएँ; गाँवों का चाहे जो हो। किन्तु हम गाँव और नगर दोनों को देश का एक बराबर अंग और दोनों की जनता को देश की सन्तान समझकर जहाँ तक बन पड़े समानता की बात कह रहे हैं। यदि गाँव के भाई भूखे मर रहे हैं, और अपना तन ढकने के लिए भी कपड़ा नहीं पा रहे हैं, और

नगरों में विलासिता के साधनो को जुटाने में धन खर्च किया जा रहा है तो यह बिल्कुल अधेर है। जिन चीज़ो से नगरो के इने गिने आदमी लाभ उठाते है. उनके खर्च मे गाँव वालो को भी हिस्सेदार बनाना सरासर अन्याय है। इसीलिये गाँवो के सुधार और उन्नति के लिए प्राय: हर देश मे रुपये की कमी रहती है। इसका इलाज यही है कि हम अपना दृष्टिकोण बदलें।

प्रचीन काल मे साधु-संत ऋषी-मुनि गाँवो में रहते थे, अब भी कुछ भले लोगो को गाँव मे रहना पसन्द है। आवश्यकता है कि आजकल के 'सभ्य' आदमी मानवता के लिए गाँवों में रहे और गाँवो का सांस्कृतिक धरातल ऊँचा उठाने मे सहायक हो। गाँवों और शहरों की हालत मे जो भयङ्कर विषमता है, उसका अन्त होना ही चाहिए। जहाँ तक हो सके, गाँवो की अच्छी बातो की—प्राकृतिक दृश्य, हरियाली, ताजी हवा, सरल जीवन आदि की व्यवस्था नगरो में, और, नगरों की सड़क, स्कूल, डाक, अस्पताल अदि अच्छी बातों की व्यवस्था गाँवों में भी होनी चाहिए। और, जो बातें बुरी हैं, सदाचार के खिलाफ़ और मानवता के लिए हानिकर हैं, उन्हें गाँवों और नगरों दोनों से हटाना चाहिए।

हमें एक आदर्श गाँव की कल्पना अपने सामने रखनी चाहिए और उसे अमल मे लाने की लगातार कोशिश करते रहना चाहिए। महात्मा गांधी के विचार से हर आदमी को साधारण भोजन के साथ साथ हर रोज़ आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन, साग तरकारी और कुछ मौसमी फ़ल मिलने ही चाहिएँ, कपड़ा भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। महात्मा जी अपनी तरह सबके लिए एक छोटी सी धोती पहनने की बात नहीं कहते। पुरुषों के लिए वे कुर्ता, ओछी धोती और टोपी ज़रूरी

समझते हैं; स्त्रियों के लिए वे पञ्जाब की पोशाक—कुर्ता दुपट्टा और सलवार अच्छी मानते हैं। आजकल गाँव वालो का जैसा अपूर्ण भोजन वस्त्र है, उसे देखते हुए यह बात अव्यवहारिक मालूम होती है। परन्तु मौजूदा हालत अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इसका जल्दी से जल्दी अत करना ही होगा। जैसा कि महात्मा जी ने कहा है, देहातो मे हम उचित सुधार करने में तब तक सफल नही हो सकते, जब तक हमारे हाथ में हकूमत की बागडोर न हो। लेकिन हमारी तपस्या और सेवा बहुत ऊँची हो जाय तो हमें हकूमत की बाट देखने की भी जरूरत नहीं है। उसके बिना भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

पशुओ और खेती आदि के सम्बन्ध में महात्मा जी का मत है कि 'मवेशियो के बारे मे गाँव वालो को परस्पर सहयोग से काम लेना चाहिए। उन्हे गाँव भर मे उतने ही मवेशी रखने चाहिए, जितने की उन्हे जरूरत हो। जानवरो के रखने का इन्तजाम सारे गाँव की तरफ से शराकत मे किया जा सकता है। अगर गाँव वाले इस तरह मिलजुल कर काम करना सीखे तो बहुत तरक्की कर सकते है। इसी तरह खेती मे भी सहकारी तरीके से यानी मिलजुल कर काम कर लेना चाहिए। गाव की सारी पैदावार का बँटवारा भी मेहनत करने वालो मे ही होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मेहनत का हिसाब नही रहेगा; हरेक की मेहनत का हिसाब तो ठीक-ठीक रखना ही पड़ेगा। जब तक हम यह नहीं कर सकते तब तक सत्य और अहिन्सा की दृष्टि से आदर्श समाज तक नहीं पहुँच सकते। और, अहिन्सक समाज मेलजोल और सहयोग पर ही क़ायम हो सकेगा।'

महात्मा जी हर गाँव में एक तरह का लोकराज्य (रिपब्लिक) क़ायम करना चाहते हैं। उनका कहना है कि दो चार सालके लिए लोग किसी एक आदमी को अपना सरदार मान सकते हैं लेकिन बाद में उसके बिना भी काम चला सकते हैं, क्योंकि लोकराज्य में कोई सरदार होता ही नहीं। लोग एक दूसरे को नज़दीक से जानते हैं। आजकल के से चुनावों का सा किस्सा नहीं होता, जहाँ लाखों, करोडों वोटर होते हैं, और उन्हें पता ही नहीं होता कि उम्मेदवार कौन शख़्स है। लोगो के पसन्द का सरदार उन्हें दबा नहीं सकता। पुराने ज़माने में हमारे यहाँ इसी तरह की कोई तजवीज थी।

ये बातें भारतवर्ष को नज़र में रखकर कही गयी है, परन्तु दूसरे देशो के गाँवो के सम्बन्ध में भी उपयोगी हैं। हमने ग्राम सम्बन्धी बातों को तनिक विस्तार से लिया है, इसका कारण यह है कि संसार की अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती है। जबतक गाँव की जनता के उद्धार का ठीक-ठीक प्रयत्न न होगा, संसार का भला नहीं हो सकता। इस समय जिस तरह जाति-पाँति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम दीवारों से मानवता का गला घुट रहा है, उसी तरह एक संसार व्यापी भेद-भाव ग्रामीण और नागरिक जनता का है। नगरो मे रहनेवालों को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की, और अपनी शक्तियों के विकास की जितनी सुविधाएँ हैं, उनकी तुलना मे ग्रामवासी बन्धुओं का क्या हाल है! और, यदि नगरों की अधिकांश जनता भी शिक्षित, सुखी सम्पन्न हो जाय, और ग्रामों की अधिकांश जनता मूर्ख, रोगी, और दुखी रहे तो विश्व का कल्याण कैसे हो सकता है! यह विषमता अब असहनीय है, थोड़े से नगरों के आदमी, वे चाहे जितने योग्य और कुशल क्यो न हों, सारी

मानव जनता के उत्थान का भार अपने कन्धों पर नहीं उठा सकते। निदान, आम जनता की शक्ति और योग्यता का धरातल ऊंचा उठाने की बहुत ज़रूरत है।

अब हम नगरों का विषय लेते हैं। कुछ बातें तो वही हैं, जो ऊपर गाँवों के बारे में कही गयी है, विचारशील पाठक उनमें आवश्यक हेरफेर करके उन्हें नगरोपयोगी बना लेंगे। यहाँ कुछ दूसरी बातों की चर्चा की जाती है।

एक नगर न तो बहुत छोटा होना चाहिए, और न बहुत बड़ा। वह ऐसा बना होना चाहिए कि गाड़ी या इक्का तांगा उसकी हर गली और हर कोने में जा सके। आबादी इतनी हो कि हर नागरिक अपने यहाँ के प्रश्नों को समझ सके, नगर की सार्वजनिक सभाओं मे भाग ले सके और अपने यहां के नेताओं आदि को जान सके, उनके भाषण आदि सुन सके और उस पूरे क्षेत्र के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव कर सके। ये सब बातें उन बड़े-बड़े शहरों में नहीं हो सकती जो पिछले सौ सवासौ वर्ष के अन्दर दूषित औद्योगिक संगठन आदि के कारण बढ़ गये हैं, पश्चिम के देशों में तो ऐसे नगर अनेक हैं; भारतवर्ष में भी कलकत्ता बम्बई आदि बढ़ते जा रहे हैं। म्युनिसिपल कार्य सुचारु रूप से होने के लिए आवश्यकता है कि इन नगरों के कई-कई नगर कर दिये जायँ और किसी एक नगर मे जहाँ तक हो सके एक लाख से ज्यादह आदमी न हों। बड़ी आबादीवाले नगरों मे सच्ची लोकतंत्रता का व्यवहार नहीं हो सकता, नौकरशाही बढ़ जाती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शहरों का विस्तार हद के अन्दर रहना चाहिए। आजकल अनेक नगर इतने बड़े होते हैं कि उनके कई हिस्सों से हर रोज़ खुली हवा का सेवन करने या प्राकृतिक

दृश्यों का आनन्द लेने के लिए बस्ती से बाहर जाना बहुत कठिन होता है; शहरवालों के लिए खेत और चरागाह देखना, तरह-तरह के पक्षियों की आवाज़ सुनना, ताज़े फूलों की सुगन्ध लेना जैसी बातों का अवसर बहुत कम आता है। हम प्रकृति से कितनी दूर रहते हैं! फिर, हमें खाने पीने की चीजें शुद्ध और अच्छी नहीं मिलती। इन सब बातों के सुधार की बड़ी जरूरत है।

अस्तु, नगर निवासी भाइयों की ओर हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें चाहिए कि निस्वार्थ और क्रियात्मक नागरिक भावना का विकास करें। जो आदमी अपने ग्राम या नगर सम्बन्धी सार्वजनिक कामों में पूरा भाग नहीं लेता, और जिसके पास ऐसा न करने की कोई खास वजह या सबब न हो, वह समाज में निन्दनीय है।

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में एक खास काम चुनाव में मत देना है। कितने ही आदमी इसमें बेपरवाही करते हैं, अथवा डर या किसी लालच में आकर अयोग्य आदमी के लिए मत देते हैं; या चुनाव में अपने मिलने वालों या जाति बिरादरी या धर्म वालों का पक्षपात करते हैं, इससे ग्राम-बोर्ड या म्युनिसपेलटी के लिए जैसे योग्य मेम्बरों का चुनाव होना चाहिए, नहीं हो पाता; इन संस्थाओं के खराब संगठन के कारण नागरिक कार्यों में अनेक दोष आ जाते हैं, और सार्वजनिक जीवन बहुत कलुषित हो जाता है। इस विषय पर विस्तार से 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक में लिखा जा चुका है; यहाँ केवल इन बातों की ओर इशारा कर देना काफी है। हर नागरिक को चाहिए कि अपने गाँव और नगर के फायदे के लिए निर्वाचन की ओर ठीक ठीक ध्यान दे और जनता के नागरिक जीवन को ऊंचा उठाने में मदद करे।

निर्वाचन के अलावा हमें अपने दूसरे नागरिक कर्तव्यों का भी अच्छी तरह पालन करना चाहिए। हमें हर प्रश्न को खूब अध्ययन और मनन करके उस पर अपनी राय बनानी चाहिए, किसी की एकतर्फा बातें सुन कर या पढ़ कर नहीं। अपने से विरुद्ध मत रखने वालों के प्रति भी हमारा व्यवहार शिष्टाचार का होना चाहिएं, दूसरे दल वालो की सभाओं में हमें गोलमाल या गड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। हमें दूसरों के स्वतंत्र विचार और मत-प्रदान सम्बन्धी अधिकार का आदर करना चाहिए। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए या विरोधी दल वालों का खंडन करने के लिये हमें झूठ, अर्द्ध सत्य या अत्युक्ति का आसरा नहीं लेना चाहिए। अपनी विजय या सफलता के लिए लोगों में क्षुद्र, संकुचित या साम्प्रदायिक भावनाओं का उभारना निन्दनीय है।

यदि हमारे मित्र किसी सार्वजनिक पद के लिए हमें निर्वाचित कर दें तो हमें अहंकार या अभिमान न करके विनय, निस्पक्षता और विवेक का परिचय देना चाहिए। अगर हमें यह निश्चय है कि उस पद की जिम्मेवरी संभालने के लिए हम में जैसी चाहिए क़ाबलियत या क्षमता नहीं है, या फुरसत की कमी है, तो नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ उसे नामंजूर कर देना चाहिए। यदि हम यह समझते हैं कि हम उस पद सम्बन्धी कर्तव्य का भली भांति पालन कर सकते हैं तो हमारा उसे स्वीकार कर लेना उचित ही है, परन्तु सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के लिए कूटनीति या तिकड़म से काम न लेना चाहिए। आजकल लोकतंत्र ऐसे सिद्धान्तहीन स्वार्थी आदमियों से दबा हुआ है, जिनका उद्देश्य येन-केन प्रकारेण कौंसिल, बोर्ड या कमेटी का मेम्बर बन जाना होता है। ये लोग रुपये या सम्मान के भूखे होते हैं, और

तरह-तरह की बातें बना कर या चाल चल कर अपनी विजय का प्रयत्न करते रहते हैं। एक बार निर्वाचत होने पर दूसरी बार, और हो सके तो बार-बार निर्वाचत होने के लिए भले-बुरे सभी उपायों का सहारा रहते हैं। ऐसे पेशेवर राजनीतिज्ञों से नागरिक जीवन दूषित होता है, ये स्वयं अपना स्वार्थ-साधन करते हैं और ज्यों ही मौका मिलता है, अपने भाई भतीजों या मित्रों को आमदनी या सम्मान के पद देते रहते हैं। ऐसे विकारों से हमें बहुत दूर रहना चाहिए।

हमें अपने गाँव या शहर का अभिमान करना चाहिए और अभिमान का उपयोग अपनी बस्ती के सुधार में करना चाहिए। हम उसे केवल कुछ घरों या गलियों का समूह न समझें। वह हमारे नागरिक भाइयों का समुदाय है, उसका अपना इतिहास है, जो कभी भूलने की बात नहीं है। उसकी विकास की कथा जाननी चाहिए कब उसका निर्माण हुआ, कब-कब उसमें कुछ खास वृद्धि की गयी, कब उसमें पंचायती भवन, चौपाल या टाउन हाल बना, कब उसमें पाठशाला, वाचनालय अस्पताल आदि बने। किस-किस महापुरुष का वहाँ जन्म हुआ और उन्होंने क्या-क्या शुभ कार्य किया। उन की यादगार केवल चित्रों, प्रतिमाओं में या गलियों, बाजारो सड़कों के नाम में नहीं रहनी चाहिए, वरन् उनकी हर साल जयन्तियाँ मनायी जायँ, जनता को उनके सद्गुणों का परिचय कराया जाय, और इस तरह सार्वजनिक सेवा की भावना की वृद्धि और विस्तार की हमेशा कोशिश होती रहे। ऐसे कामों से हम अपने अपने स्थान में रहते हुए मानव समाज की निस्वार्थ सेवा कर सकते हैं, जिसका करना हमारा परम कर्तव्य है।

छठा अध्याय

राष्ट्र

—:o:—

एक व्यक्ति से आदर्श भूमण्डल समाज नहीं बन सकता। एक व्यक्ति से परिवार, परिवारों से वंश, वंशों से जाति, जाति का राष्ट्र बन जाता है। वे सब सीढ़ियाँ राष्ट्रों में लड़ाइयाँ हैं, झगड़े हैं—किन्तु इन सारी त्रुटियों के साथ एक उन्नति का तत्व विद्यमान है।

—*इन्द्र वेदालंकार*

राष्ट्रीयता भावुकता का नारा नहीं है। यह एक रचनात्मक भावना है। हमें अपने देश को आर्थिक रूप में स्वावलम्बी तथा सांस्कृतिक रूप से प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।—*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

पिछले अध्याय में गाँव और नगर के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। वे हमारे रोज़मर्रा के कामों या सेवा के निकट क्षेत्र हैं। इनसे बड़ा क्षेत्र जिसके प्रति हमारा स्वाभाविक अनुराग होता है, राष्ट्र कौम, या नेशन, है। एक राष्ट्र में बहुत से कबीले और जाति-उपजातियाँ होती हैं। इन संगठनों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। इनमें से हर समूह के आदमियों की अपनी अपनी रीति-रस्म, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं। बहुत समय तक पास पास रहने के कारण ये आपस में आत्मीयता या अपनेपन का अनुभव करने लगते हैं, और सुसंगठित होकर एक ही शासन पद्धति में रहने लगते हैं। भाषा आदि की विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र की दूसरे से पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है।

राष्ट्र के प्रति मनुष्य का प्रेम, श्रद्धा और भक्ति कितनी प्रबल होती है, यह सब जानते हैं। 'मेरी मातृभूमि' 'मेरा वतन' 'मेरा मुल्क' 'मेरा देश (स्वदेश)' 'मेरी जन्मभूमि' या 'मेरा राष्ट्र' यह विचार आते ही मनुष्य गद्‌गद् हो जाता है, और वह उसके लिए अधिक से अधिक त्याग करने और कष्ट सहने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रीय झण्डे के सम्मान के लिए बालकों और बूढ़ों तक ने अनुपम साहस का परिचय दिया है। झंडा-गान के समय आदमी अपने सब दुखों को भूल जाता है। मातृवन्दना से हृदय में विलक्षण ही भावों का संचार होने लगता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में किसी व्यक्ति विशेष का ही भाव प्रकट नहीं किया गया है, यह लोक भावना का व्यक्त स्वरूप है, लोकवाणी है। ऐसे ही इसलाम धर्म का एक मशहूर सिद्धान्त है—हुब्बुल वतन मिनल ईमान' यानी अपने देश से प्रेम करना ईमान का एक अंग है।

राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम अपने देश से, उसके खेतों और खलिहानो से, वहां के नाना भांति के दृश्यो से, वहाँ के इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति और परम्पराओ से खास प्रेम रखें। जो प्रदेश या जो लोग भौगोलिक परिस्थिति या भाषा की समानता आदि के कारण हमारे सम्पर्क में अधिक आते है, उनकी ओर आकर्षित होना, उनके साथ अधिक प्रेम करना स्वाभाविक ही है। इस तरह देश हमारी कई तरह की सेवाओं का क्षेत्र हो सकता है। आम तौर पर एक भारतवासी भारतवर्ष में, अगरेज इंगलैण्ड मे, और जर्मन जर्मनी में मानव समाज की इतनी सेवा कर सकता है, जितनी वह दूसरे देश में जाकर नहीं कर सकता, क्योकि अपने देश में वह दूसरे भाइयों की हालत, स्वभाव और जरूरतों आदि को अच्छी तरह

समझता है, उनके विषय में उसको अच्छा अनुभव होता है।

देश या राष्ट्र की सेवा के अनेक अग हैं सामाजिक, शिक्षा और साहित्य सम्बन्धी, औद्योगिक, राजनैतिक आदि। यहाँ इनमें से हरेक के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखने की जरूरत नहीं है, कुछ बातो की संक्षेप में ही की चर्चा जाती है।* सामाजिक विषयोंपर लोगो में प्रायः दो दल हुआ करते हैं। बहुत से आदमी पुरानी बातों को आंख मींच कर पालन करते रहते हैं; चाहे वे बातें अब नये जमाने और नयी परिस्थिति में उपयोगी न होकर हानिकर ही हों। वे नहीं सोचते कि यदि कोई बात किसी खास समय में अच्छी भी रही हो तो अब बदली हुई परिस्थिति में उसका वैसा ही लाभदायक होना जरूरी नहीं है। और, कोई बात, 'हमारे बाप दादों ने की थी', इसी आधार पर हमेशा के लिए सुरक्षित नहीं रखी जानी चाहिए। इसके विपरीत, देश में कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं, जो हर पुरानी चीज का बहिष्कार करने और नयी बातों का बिना जाँच पड़ताल किये प्रचार करने के लिए तैयार रहते हैं। सचाई यह है कि कोई बात केवल नयी होने के कारण ही मानने के काबिल नहीं हो सकती। देश का सच्चा हित चाहने वालों को ऊपर लिखे दोनों मार्गों की अति को छोड़कर अपना कर्तव्य निश्चय करना चाहिए; वे रखने योग्य पुरानी बातो की रक्षा करें और साथ ही उन नयी बातों को भी अपनाते रहे, जो विचार करने पर और तजरबे यानी अनुभवसे उपयोगी साबित हों। हम सुधारक तो हों, पर जल्दबाज

* भारतीय पाठको के लिए इन विषयो पर विचार 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' और 'भारतीय जागृति' पुस्तकों मे किया गया है।

या अविवेकी न हों। गम्भीर, धैर्यवान, सहनशील और अमली जीवन बिताने वाले कार्यकर्ताओं की हर देश को जरूरत रहती है।

देश में शिक्षा और साहित्य के प्रचार में अपनी शक्ति भर योग देना हर नागरिक का कर्तव्य है। हाँ, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनकी आड़ में बालक बालिकाओं के मन में ऐसे संस्कार न पड़े जो उनके दृष्टिकोण को अनुदार और उनकी विचारधारा को संकुचित कर दें। इस विषय में आगे और लिखा जायगा। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है। हर नागरिक को केवल अपने प्रान्त की भाषा या साहित्य से संतुष्ट न होकर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का भी प्रचार करना चाहिए। हमारा अपने को देश-प्रेमी या राष्ट्र-प्रेमी कहना बेमाइने है, जब तक हम देश की भाषा (राष्ट्र-भाषा) नहीं सीखते, और सीख कर उसकी उन्नति करने में जहाँ तक हो सके, भाग नहीं लेते। हमें इस बात की भी कोशिश करनी चाहिए कि हम दूसरे देशों की भाषा और साहित्य से, और वहाँ के रहने वालों से जानकारी हासिल करें।

इस तरह के प्रयत्नों से भी हमारी सहानुभूति और हमारा सहयोग होना चाहिए, जो देशवासियों की आर्थिक अवस्था सुधारने में सहायक हों। 'देशवासियों' से हमारा मतलब कुछ इने गिने थोड़े से आदमियो से नहीं है, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की मेहनत से बेजा फायदा उठाते हो। हमारा उद्देश्य जनता जनार्दन की सेवा और हित साधन है; वे किस तरह स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करें, और अपने शारीरिक और मानसिक विकास का मार्ग साफ़ करें, यही हमारा मुख्य विचार

रहना चाहिए। पूँजीवादियों के औद्योगिक कार्य वास्तव में व्यापक राष्ट्र-हित साधक नहीं होते, इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा; विचारशील लोगों को चाहिए कि उनमे आँख बन्द करके योग न दे।

अपने देश या अपनी कौम को आज़ाद करना और उसकी आज़ादी की रक्षा करना तो नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य है। पराधीनता की हालत मे कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक शक्तियों का पूरा पूरा विकास नही कर सकता और मानवता के लिए जितना चाहिए उपयोगी नही बन सकता। नागरिको को चाहिए कि वे अपने राष्ट्र को आज़ाद करें और अनियंत्रित या अन्यायी शासन से उसे छुटकारा दिलावें। वे किस तरह इस काम मे मदद दे सकते हैं, और इसे करते हुए उन्हे किन-किन सिद्धान्तो का ध्यान रखना जरूरी है, इसके बारे मे कुछ विचार-सामग्री दूसरी जगह मिलेगी। यहां हमें यही कहना है कि हम राजनीति और राष्ट्र-नीति को कूटनीति या कपट-शास्त्र न समझें, और अपने व्यवहार से उसे सब के भले के लिए मानव शास्त्र का अंग बनाने की कोशिश करें। हम याद रखें कि हिन्सा और छल-कपट से प्राप्त विजय या आजादी क्षणिक तो होती ही है, इसके अलावा, यदि अच्छी तरह विचार किया जाय, तो वह सच्चे अर्थ में विजय या या आजादी नहीं होती, वह हमारे पतन का रास्ता तैयार करती है, इसलिए हमें भ्रम से उसके प्रलोभन मे नहीं पड़ना चाहिए।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इस बात पर जोर देना जरूरी है कि चाहे किसी खास परिस्थिति के कारण हम दूसरे राष्ट्रों की भलाई के कामों में बहुत सहयोग न दे सकें,

फिर भी हमें याद रखना है कि सब राष्ट्र एक ही मानव जाति के अंग हैं। यदि हो सके तो हमें दूसरे राष्ट्रों की भी सेवा में हिस्सा लेना चाहिए। हमारी भावना संकीर्ण या अनुदार न होकर व्यापक और उदार होनी चाहिए। वह किसी को अधीन करना या किसी का शोषण करना न चाहे; वह युद्ध और विजय दोनों से लज्जित हो।* उदार राष्ट्रीयता सैनिक यादगारों को मिटा देना चाहती है। वह उन कवियों, चित्रकारों, वैज्ञानिको, कलाकारो, और दूसरे स्त्री पुरुषों की याद में सुन्दर स्मारक खड़े करती है, जिन्होने समाज की असली सेवा की है। जब ऐसी प्रशंसनीय उदार राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ेगी तो वह इतिहास को मनुष्यों के रक्तपात से मुक्त कर देगी।

याद रहे कि संकीर्ण या अनुदार और उग्र होने की दशा में राष्ट्रीयता विनाशक होती है, वह विशाल सामाजिक संगठन में रुकावट डालती है। उसके बारे में आगे लिखा जायगा।

---

*सम्राट् अशोक ने अपने कलिंग विजय पर खुले शब्दों में पश्चाताप और दुख प्रकट किया था। उसके एक शिला-लेख के कुछ अंश का अनुवाद देखिए—"कलिंग को जीतने पर 'देवताओं के प्यारे' (अशोक) को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नही हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। 'देवताओं के प्यारे' को इससे बहुत दुख और खेद हुआ।"

सातवाँ अध्याय

साम्राज्य

संसार का शासक बन जाने के बाद भी (खलीफा) उमर पहले की तरह सादा, अपने रहन-सहन में कठोर और ईमानदार बना रहा।...उसने महान ससार-व्यापी मानव बन्धुत्व को उसकी शुरू की सीधी-सादी सच्ची मानव समता पर कायम रखा। यदि इसी तरह के आदमी संसार के शासक होते रहते तो ससार का इतिहास कुछ और ही होता। —*डेनीसन*

हम कह चुके हैं कि आदमी की राजनैतिक भावना पहले नगर-राज्यों में प्रकट हुई। जो नगर पास-पास थे, उनमें लोगों का रहन सहन, भाषा, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता आदि बहुत कुछ एकसी होती थी, फिर भी हर राज्य अपना अलग अस्तित्व रखने का अभिलाषी होता था; यहाँ तक कि वह अपने पड़ोसी राज्य से लड़ कर अपनी बहादुरी और बड़प्पन का परिचय देता था। इससे मानव उन्नति में बाधा पड़ती थी। धीरे-धीरे उन्हे अपनी भूल मालूम हुई, और उनमें पास-पास के नगर-राज्यों को मिलाकर एक राष्ट्र-राज्य बनाने का बिचार पैदा हुआ।

नगर-राज्यों से राष्ट्र-राज्य एक दम नहीं बन गये। अनेक बार बनते बनते रह भी गये। बडी कठिनाई से नगर-राज्य अपनी प्रभुता और पृथकता का त्याग करने को तैयार हुए। कहीं राष्ट्र-राज्य एक समय बना, कहीं उसके बहुत आगे पीछे। कही

उसके निर्माण का एक ढंग रहा, कहीं दूसरा। राष्ट्र-राज्यों का बनना सामाजिक विकास की अच्छी मंजिल थी। कुछ समय बाद अनुभव हुआ कि राष्ट्र-राज्य भी छोटे हैं। इन्हें अलग-अलग अपनी नई-नई ज़रूरतें पूरी करने में कठिनाई होती थी। इनका आपस में संघर्ष होता था और इनकी बहुत सी शक्ति आपसी लड़ाई झगडो में ही खर्च हो जाती थी। धीरे-धीरे कोई राज्य इतना शक्तिशाली या ताकतवर हो गया कि वह दूसरो पर अपना रौबदौब जमा सका; कुछ को राजी से, और कुछ को थोड़े संघर्ष के बाद उसने अपने अधीन कर लिया। इस तरह वह राज्य से साम्राज्य बन गया, और प्रबल राजा सारे साम्राज्य का सम्राट् हो गया।

जिस तरह एक जवान साहसी आदमी यह चाहने लगता है कि मेरे साथी मेरे बल और पुरुषार्थ का लोहा मानें. उसी तरह एक राष्ट्र में भी. सबल होने पर यह आकाँक्षा पैदा हो जाती है कि दूर-दूर तक के प्रदेश मेरी प्रभुता को स्वीकार करें, मैं सब पर शासन कर सकूँ, सब पर मेरा आतङ्क छाया रहे। जब किसी राष्ट्र में कोई चंगेज़ खाँ; चन्द्रगुप्त, बाबर या सिकन्दर पैदा हो जाता है, तो वह दूर दूर तक राज्य विस्तार करने को कटिबद्ध हो जाता है। वह इसके लिये ज़रूरी सेना और सामान जुटा लेता है, कुछ आदमी अपनी आजीविका या धन प्राप्ति के लिए उसकी सेना मे भर्ती होते हैं, तो कुछ अपना क्षात्र तेज या बाहु-बल दिखाने के लिए ही उसके सहायक हो जाते हैं। कहीं कहीं धार्मिक भावना का भी आसरा ले लिया जाता है, और पंडितो या पुरोहितों से विजय का मुहूर्त निकलवाया जाता है। इसके उपलक्ष्य में दान, धर्म, जप, यज्ञ आदि अनुष्ठान

होते हैं, जिनका स्वरूप, देशकाल के अनुसार अलग-अलग होता है। इस तैयारी के बाद राजा अपनी विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। कोई कोई प्रदेश तो उनकी सैनिक शक्ति का विचार करके चुपचाप उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, और कहीं कहीं उनका डटकर मुकाबला होता है। कभी कभी आक्रमणकारियों को बड़े बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जो लोग धुन के पक्के होते हैं; वे अपना साहस नहीं छोड़ते, बार-बार उद्योग करते हैं, अपने सैनिक संगठन को सुधारते हैं, शक्ति को बढ़ाते हैं और फिर अपना मनसूबा पूरा करते हैं। ख़ून ख़च्चर से वे घबराते नहीं। दूसरो की तो बात ही क्या, स्वयं अपने प्राणों का भी उन्हे मोह नहीं होता। ऐसे होते हैं, 'नहीं-नहीं यों कहना चाहिए कि ऐसे होने थे, पुराने ज़माने के साम्राज्य-निर्माता। 'होते थे' कहने मे हमारा खास मतलब है। हम पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि यहाँ हम आजकल के उन साम्राज्यों की बात नहीं कह रहे हैं, जिनका उद्देश्य केवल अपने अधीन देशों से धन खैंचना होता है, या जो अपना राज्य इस लिए बढ़ाते हैं कि उन्हे अधीन देशों से अपने कल कारखानों के लिये कच्चा माल और अपने तैयार सामान के लिए सुरक्षित बाज़ार मिलें। साम्राज्यों में यह पूँजीवाद की भावना तो इस ज़माने में आयी है, और आजकल की महाजनी सभ्यता की विशेषता है। आजकल के ये पूँजीवादी साम्राज्य मानव समाज के विकास में बहुत बडी रुकावटें साबित हो रहे हैं। इनके बारे में अगले खंड में और ज्यादह लिखा जायगा।

यहाँ तो हमें ऐसे (प्राचीन) साम्राज्यों का विचार करना है, जो अपना विस्तार इसलिये करते हैं कि सामाजिक संगठन का दायरा बड़ा हो जाने पर दूर दूर के आदमियों में मेल

मिलाप बढ़ता है, उनकी ज़रूरतें पूरी होने में सुविधा होती है, विद्या और ज्ञान का लेन देन बड़े पैमाने पर होने लगता है, संकीर्णता हटने लगती है और आदमी अपने रहने सहने, व्यापार करने और सोचने विचारने के लिए छोटे छोटे तङ्ग घेरों में बन्द न रहकर एक ज्यादह बड़ी दुनिया का उपयोग करने लगते है। पुराने ढङ्ग के साम्राज्यों का यह समझा बूझा लक्ष्य था, और जिनका इस तरह का लक्ष्य न था, उनका भी आम तौर पर नतीजा यही होता था।

प्राचीन साम्राज्य प्रायः जीते हुए राज्य के भीतरी बन्दोबस्त और इन्तजाम में दखल नहीं देते थे। जहाँ तक होता था वहाँ के राजपरिवार के ही किसी सुयोग्य आदमी को वहाँ का शासक बना दिया जाता था। इस तरह साम्राज्य के अन्दर अधीन या मातहत राजाओं को बहुत कुछ राजनैतिक आज़ादी होती थी। एक दरजे तक सब अपने राज्य में अपना क़ायदा क़ानून और अपनी शासन-नीति बरतते थे। ये सब राजा सम्राट् की प्रभुता और बड़प्पन मानते थे, और खास खास मौकों पर उसे कुछ भेंट या नज़राना देते थे। परन्तु सम्राट् उन छोटे राज्यों की आमदनी हड़प करने या उसका उपयोग अपने किसी अलग देश के लिए करने का इच्छुक न होता था; वह वहाँ अपने खानदान वालों या अपनी क़ौम वालों को ऊँचे ऊँचे सरकारी पद देने का भी इरादा न करता था।

राम ने लंका को विजय किया तो वहाँ की राजगद्दी रावण के भाई विभीषण को दी। कृष्ण ने कंस को मार कर वहां उस (कंस) के पिता उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। इसी तरह जरासंध के मारे जाने पर उस का पुत्र सहदेव, और चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल के मारे जाने पर उसका

पुत्र राज्य का अधिकारी बना। उसके बाद मौर्य साम्राज्य या गुप्त साम्राज्य में हम देखते हैं कि सम्राटो को साम्राज्य के सब हिस्सों के आदमियों की भलाई की समान रूप से चिन्ता है; यह नहीं कि सम्राट् के खास देश को मालामाल करने के लिए साम्राज्य के दूसरे देशो के लोगो को मरना-खपना और दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा हो। इसके बाद मुग़ल सम्राटो का समय आता है। मुग़ल सम्राटो ने भारतवर्ष के धन को भारतवर्ष में ही और भारतवासियों के लिए ही ,खर्च किया, ये ,खुद भारतवासी बन गये और यह बात बिल्कुल कल्पना के बाहर हो गयी कि इन सम्राटो द्वारा भारतवर्ष का रुपया अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या मध्य एशिया में भेजा जाय। मुग़ल सम्राटों की तो यह कोशिश रही कि बाहरी साधन भी भारतवर्ष ही को उन्नत और मालामाल करने में काम में लाये जायँ।

भारत का मुग़ल साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य है, जो प्राचीन शैली का होते हुए भी कई अंशों में आधुनिक पाठकों के बहुत नज़दीक का है। इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार करना उपयोगी होगा। इससे प्राचीन साम्राज्यों के काम और असर के बारे में व्यापक रूप से अनुमान करने मे सुविधा होगी। इस साम्राज्य के सम्बन्ध में सर यदुनाथ सरकार ने खास अध्ययन किया है, उन्होने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख * मे बताया है कि मुसलिम शासन से भारतवर्ष को नीचे लिखे दस लाभ हुए हैं—

(१) बाहर की दुनिया के साथ सम्बन्ध कायम होना,

* इसका हिन्दी अनुवाद 'विशाल भारत', अगस्त १९३१ मे प्रकाशित हुआ था; शीर्षक था—'भारत में मुसलमान'।

भारतीय नौ शक्ति (जल सेना) का संगठन और समुद्र पार विदेशों में हिन्दुस्तान की तिजारत।

(२) एक छत्र राज्य के परिणाम-स्वरूप भारतव्यापी शान्ति, खासकर विन्ध्याचल के उत्तर के सारे हिस्से में।

(३) सारे देश में एक ही तरह की शासन प्रणाली, और एक ही शासक के अधिकार के कारण जनता के व्यवहार, वाणिज्य व्यवसाय, रहन सहन और एक दरजे तक उनके विचारो में भी एकता की स्थापना।

(४) हिन्दू और मुसलमानो में समान रूप से ऊँची और नीची सब श्रेणियों के बीच सामाजिक आचार व्यवहार, भाव, पोशाक, आभूषण आदि में एक ही प्रणाली का अनुसरण।

(५) मुग़ल चित्रकला का जन्म, गृहनिर्माण कला का अद्भुत विकास और कितनी ही नई-नई दस्तकारियों का जन्म और उनकी तरक्की।

(६) सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए एक उपयोगी प्रचलित भाषा उर्दू का जन्म, जिसे फार्सी मे हिन्दवी यानी भारतीय भाषा कहा जाता है।

(७) संस्कृत का व्यवहार पहले ही लुप्त प्रायः हो चुका था, मुसलमान-शासन से मिलने वाली शान्ति और ऐश्वर्य के फल स्वरूप हिन्दी, बंगला, मराठी आदि नई-नई भाषाओं में साहित्य-रचना का प्रारंभ।

(८) हिन्दू समाज में केवल एक ईश्वर की पूजा पर ज़ोर देने वाले सम्प्रदायो का जन्म; वैदान्तिक सूफ़ी धर्म का प्रचार।

(९) इतिहास-रचना।

(१०) युद्ध-विद्या में और सभ्यता के समस्त विभागों में में सर्वांगीण उन्नति।

इनमें से हमें खास तौर से दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है—(१) इस साम्राज्य ने भारतवर्ष का बाहरी संसार के साथ फिर से परिचय कराया और (२) इसने भारतवर्ष में जातीय यानी राष्ट्रीय एकता की जड़ें मज़बूत कीं। इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में विद्वान लेखक ने बताया है कि बौद्ध काल के अन्त तक भारत के साथ दक्खिन और पूरब एशिया के कई देशों का गहरा सम्बन्ध था। पर हूणों को हराने के बाद आठवीं सदी में हिन्दू धर्म अपने घर को संभालने मे ही लग गया था। मुसलमानों के शासनकाल में बहुत से भारतीय मुसलमान यहाँ से बाहर गये, और विदेशी मुसलमान और दूसरे धर्म वाले यहाँ आये। पश्चिमोत्तर में बोखारा, समरकन्द, बलख, खुरासान, ख़ारिजम और फारिस जैसे देशो से; पूरब और दक्खिन में सिंहल, सुमात्रा, जावा, श्याम, चीन से; और दक्खिन-पच्छिम में ज़ंजीबार तक से तिजारती माल निर्विघ्न और बेरोक-टोक आने जाने लगा।

राष्ट्रीय एकता के बारे में श्री० यदुनाथ ने लिखा है कि दो सौ वर्ष तक मुगल सम्राटों के शक्तिशाली शासन के कारण समस्त उत्तर भारत ने और दक्खिन भारत के भी एक हिस्से ने, एक सरकारी भाषा, एक शासनप्रणाली, एक से सिक्के और बोलचाल की एक भाषा प्राप्त की। राजकर्मचारी, सैनिक, व्यापारी और यात्री एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बराबर जाते आते थे, और कहीं भी अपने आपको परदेश में आया हुआ हुआ नहीं समझते थे। सब लोग विशाल मुगल साम्राज्य को एक देश और एक जन्मभूमि मानने लग गये थे। इससे भारतीयता या भारत-राष्ट्रीयता की कल्पना सम्भव हो गयी।

पुराने जमाने के साम्राज्यों की एक और मिसाल सिकन्दर के साम्राज्य की भी दी जा सकती है। सिकन्दर ने अपने जीते हुए देशों से सोना चाँदी लेकर यूनान को नहीं भरा। उसका यह उद्देश्य भी नहीं था। वह भिन्न-भिन्न जातियों का मिश्रण चाहता था। उसकी विजयों से मानव समाज के संगठन की वृद्धि हुई। यूरोप और एशिया के अनेक देशो के और, अफरीका से मिश्र आदि के निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आये। सिकन्दर स्वयं लाखो आदमियो को पूरबी यूरोप से एशिया लाया और लाखों ही को एशिया से यूरप ले जाकर बसाया। इनमे बहुत से विद्वान और कारीगर भी थे। इससे यूरप मे एशिया के ज्ञान और संस्कृति का प्रचार हुआ, और एशियाई देशो ने भी यूनान की विद्या और कला को बहुत दरजे तक अपनाया।

प्राचीन साम्राज्यों की इस उपकारक भावना की एक बहुत अच्छी मिसाल खलीफा उमर के जीवन मे मिलती है।* खलीफा उमर की अधीनता मे सन् ६४० ई० मे अरब सेनापति उमर ने मिश्र को जीता। उस समय विजेता उमर को किसी ने यह सलाह दी कि वह मिश्र की भूमि विजयी अरबों में तकसीम करदे। खलीफा से पूछा गया। वहाँ से जवाब आया—"प्रजा की जमीन उन्हीं के कब्जे में रहने दी जाय। वे ही उसकी सेवा करें और उससे फलें फूलें।" इस विषय में जिस नीति का पालन खलीफा उमर ने इराक, शाम और फिलिस्तीन में किया था, उसी का मिश्र में किया। उसने देश की एक एकड़ जमीन पर भी किसी अरब को कब्जा करने न दिया। यहाँ तक कि जब सेनापति उम्र ने अपना एक मकान बनाने के लिए खलीफा

* देखिए, फरवरी १९४४ की 'विश्ववाणी'; पंडित सुन्दरलाल, जी का लेख, शीर्षक—'खलीफा उमर; कारनामें और चरित्र'।

से कुछ ज़मीन की इजाज़त चाही तो खलीफा ने यह कह कर इनकार कर दिया—'तुम्हारे पास रहने के लिए मदीने में एक मकान है, वही तुम्हारे लिए काफी होना चाहिए।' खलीफा उमर की सादगी और आत्मत्याग भी कैसा गजब का था! एक बार उसके शासन काल में अरब में दुष्काल पड़ा। पेश्तर इसके कि शाम या इराक से काफी नाज आ सके, हजारों आदमी भूख से तड़पने लगे। इस समय, सर विलयम म्यूर ने लिखा है—"उमर ने अपने अभ्यस्त आत्मत्याग के साथ हर ऐसी चीज को खाने से इनकार करे दिया जो आस-पास के दूसरे लोगों को न मिल सकती थी। उसने प्रतिज्ञा की कि 'जिस वक्त तक लोगों के पास काफी खाना न हो जाय, मैं मांस, मक्खन या दूध तक को हाथ न लगाऊँगा।' दूध और मक्खन के बजाय जैतून का तेल और मोटी रोटी खाते उमर का ताकतवर शरीर कमजोर हो गया और चेहरा उतर गया। नौ महीने तक यानी जब तक बारिश नहीं हुई, और कहत का खात्मा नहीं हुआ, उमर की यही खुराक रही।"

अब जमाना बदल गया है, ये बातें अनोखी मालूम होती हैं। आजकल के सम्राटों का ही नहीं, उनके अधीन गवर्नरों आदि छोटे बड़े शासकों और फौज और पुलिस के अधिकारियों तक का रवैया कुछ और है; न वैसे सम्राट हैं, और न वैसे साम्राज्य। प्राचीन साम्राज्य अधिक-से-अधिक मानव जाति को एक सूत्र मे बांधने के प्रयत्न थे; आजकल का साम्राज्यवाद मानव जाति के बीच में रंग और राष्ट्र की दीवारें खड़ी करके जातियों को तुच्छ स्वार्थ-साधन में लगा रहा है; मनुष्य के सामाजिक विकास में भयंकर बाधा है। इसका विचार आगे किया जायगा।

आठवाँ अध्याय

संघ-राज्य

हमने पिछले अध्याय मे कहा है कि राष्ट्र-राज्य से आगे मनुष्य-समाज के विकास की मज़िल साम्राज्य है। साम्राज्य से वहाँ हमारा मतलब पुराने ज़माने के ऐसे साम्राज्यों से ही है, जिनकी ग़रज़ दूसरे देशो को लगातार लूटना या उन्हे चूसना नहीं होती थी। यह लूट और शोषण तो पीछे की क्रियाएँ हैं, जिन्हे हम विकास की मंजिल न कह कर मार्ग की बाधा ही कह सकते हैं। उसके बारे मे आगे विचार किया जायगा।

यह ज़रूरी नहीं है कि राष्ट्र-राज्य के बाद अगला सामाजिक संगठन साम्राज्य के ही रूप में हो। वह संघ-राज्य भी हो सकता है। आम तौर से, जब कुछ राज्य मिलकर किसी प्रबल राज्य से अपना बचाव करने यानी आत्म रक्षा के लिए, या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए अपनी सेना, टकसाल, व्यापार आदि विभागों का प्रबन्ध सामूहिक रूप से करने के लिए एक संगठन कर लेते हैं तो कहा जाता है कि उन्हो ने अपना 'संघ' (फेडरेशन) बना लिया है। इस तरह के संघ को खास-खास बातों के अधिकार सर्वोपरि होते हैं। वह अपने काम के लिए सब राज्यों की जनता से ज़रूरी सामान जुटाने का अधिकारी होता है। विधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख होता है कि किन-किन विषयों में संघ-सरकार का, और किन मे अलग-अलग राज्यों का अधिकार होगा, और बाकी बातों के

अधिकार किसे होंगे। संघ में सम्मिलित राज्यों के नागरिक संघ के भी नागरिक होते हैं। इस तरह संघ-राज्य में हर नागरिक को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, उसे दोनों के क्षेत्रों मे मताधिकार होता है। सघ की सरकार और हर राज्य की अलग सरकार दोनो ही सब नागरिकों द्वारा बनती हैं, और उनके प्रति जवाबदेह होती हैं। दोनों तरह की सरकारें नागरिकों से सीधा सम्बन्ध रखती है।

जिस तरह राष्ट्र-राज्य नगर-राज्य से आगे की मंजिल है, उसी तरह संघ-राज्य राष्ट्र-राज्य से आगे की प्रगति ज़ाहिर करता है। इस विषय में ज़रूरी बातें जानने के लिए यहाँ मिसाल के तौर पर यह बताया जाता है कि 'अमरीका के संयुक्त राज्य' नाम के संघ का निर्माण किस तरह हुआ। पाठक जानते ही हैं कि अमरीका अपनी आर्थिक, मानसिक और वैज्ञानिक उन्नति के कारण ससार भर में अपना खास स्थान रखता है।

अमरीका के इस भाग में यूरोप वालों की बस्तियाँ सतरहवीं सदी के शुरू से ही आबाद होने लगी थीं। तब से यहाँ के मूल निवासी या असली बाशिन्दे 'रेड इडियन' देश के भीतरी हिस्सों में भगाये जाने लगे और समुद्र के किनारे-किनारे यूरोप वालों के उपनिवेश कायम होना शुरू हो गया। इन यूरपियनों में ज्यादहतर अंगरेज़ थे; उनके अलावा फ्रांस, हालैन्ड और स्पेन आदि के भी आदमी थे। ये लोग प्रायः सब एक ही जाति के थे, एक ही भाषा बोलते थे, इनके राजनैतिक और आर्थिक हित भी एक समान थे। फिर भी अमरीका में इनके राज्य अलग-अलग थे। हर राज्य का ब्रिटिश सम्राट् से लगभग वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा उसके पड़ोसी राज्य का। परन्तु हर एक

की सरकार, व्यवस्थापक सभा, न्यायालय, शासक और कर्मचारी अलग-अलग थे।

सन् १६४३ ई० में इनमें से चार उपनिवेशो ने मिल जाने की कोशिश की। वे चाहते थे कि फ्रांसीसी और डच (हालैन्ड के) उपनिवेशों की जनता से और वहां के मूल निवासियो से अपनी रक्षा करने के लिए अधिक शक्तिशाली बन जायँ। इस लिये उन चार ने एक तरह का 'सघ' बना कर अपना संगठन किया और उसके लिए आवश्यक नियम बना लिये। हर राज्य के दो दो सदस्य ले कर उन सबका एक कमीशन बनाया गया, जिसे दूसरे राज्यो से संधि और युद्ध सम्बन्धी विचार करने का अधिकार था। कुछ समय बाद यह कमीशन बेकार साबित हुआ, और उन चार उपनिवेशो की एकता की कोशिश असफल रही।

अमरीका के ये सब उपनिवेश उन दिनों बहुत दरजे तक इंगलैन्ड के अधीन थे। धीरे-धीरे उपनिवेशो मे राजनैतिक जागृति बढ़ रही थी। उनमें स्वाधीनता के भावो का उदय हो रहा था। उन्हे यह अखरने लगा कि इंगलैन्ड उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर तरह-तरह के कर (टैक्स) और कानूनों का बोझ लादता रहें। वे इगलैण्ड से सम्बन्ध तोड़ने की बात सोचने लगे। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उन्हें एक दूसरे पर विश्वास न था। वे समय समय पर कुछ बातो के लिए आपस में समझौता करते और कुछ समय के लिए मिल जाते थे। पर यह सगठन कभी ठिकाऊ नहीं होता था। हर छोटे राज्य को यह डर था कि सबका संगठन हो जाने पर और संघ-सरकार के बन जाने पर बहुत सी सत्ता इन छोटे राज्यों से छिन कर संघ-सरकार को मिल जायगी; फिर उनकी स्वाधीनता न

रहेगी।

इन उपनिवेशों के सङ्गठन का दूसरा मौक़ा सन् १७५४ में आया, जबकि इंगलैण्ड और फ्राँस में युद्ध छिड़ने वाला था। यद्यपि उपनिवेशों को इंगलैण्ड के व्यवहार से असंतोष था, फिर भी वे यह नहीं चाहते थे, कि उनके पड़ोस में ही फ्राँस की शक्ति प्रबल हो जाय, और उससे कष्ट उठाना पड़े। इधर इंगलैण्ड भी चाहता था कि उपनिवेशो की शक्ति अधिक हो जिससे फ्राँस वहाँ ज़ोर न पकड़ने पावे। इसलिये उसने सन् १७५४ मे सब उपनिवेशों की एक काँग्रेस का अधिवेशन कराया। उपनिवेशो के प्रतिनिधियों ने उनके मिलने की योजना पर विचार किया और इगलैण्ड को फ्राँस के विरुद्ध सात साल के युद्ध (१७५६-६३) में जन धन से खूब मदद की। इस युद्ध में इंगलैण्ड की जीत रही।

उपनिवेशो के मिलने का कोई खास प्रयत्न सन् १७६५ ई० से पहले न हुआ। सन् १७६५ में उन्होंने ब्रिटिश पालिमेंट के कर लगाने का विरोध करने का फैसला किया। बात यह थी कि सात साल के युद्ध के अन्त में इंगलैण्ड पर बहुत कर्जा हो गया था, उसे हलका करने के लिए और भविष्य में स्थाई सेना अधिक रखने के लिए उसने अमरीकन उपनिवेशो पर तरह-तरह के टैक्स (कर) लगाने शुरू किये। इन टैक्सों से उपनिवेशों का सब कारोबार और व्यापार चौपट होता था। उनका कहना था कि जब ब्रिटिश पार्लिमेंट में हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं तो उसे हम पर टैक्स क्यो लगाना चाहिए। इस पर धीरे धीरे कई टैक्स हटा दिये गये। लेकिन चाय का टैक्स बना रहा। उपनिवेशो ने इस टैक्स का क्रियात्मक विरोध किया। जब जहाज में भरी चाय अमरीका के बोस्टन बन्दरगाह पर पहुँची तो उन्होंने उसे

ज़बरदस्ती समुद्र में उलट दिया। आख़िर, सन् १७७५ में उनका इंगलैण्ड से युद्ध छिड़ गया। यही अमरीका की स्वाधीनता का युद्ध था। ४ जुलाई १७७६ को उपनिवेशो ने, जिनकी संख्या उस समय १३ थी, अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया। युद्ध होता रहा। उपनिवेशों को काफी हानि उठानी पड़ी, तो भी इंगलैण्ड उन्हे दबा न सका। आखिरकार १७८३ मे संधि हुई। उपनिवेश स्वाधीन हो गये।

इस युद्ध ने उपनिवेशों के एकीकरण में भारी सहायता दी। जबकि इस युद्ध का विचार ही हो रहा था, सन् १७७४ में इन उपनिवेशो की अन्तर-औपनिवेशिक सभाएँ (काँग्रेस) आरम्भ हुई। इन सभाओं में सब उपनिवेशो के प्रतिनिधि होते थे, और हर उपनिवेश को समान मताधिकार रहता था। सन् १७७६ में तेरह उपनिवेशों में से केवल नौ के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा कर लगाये जाने का विरोध किया। अगले वर्ष सन् १७७७ में सघ (कन्फेडरेशन) के मुख्य नियम तय किये गये। परन्तु सन् १७८१ तक उनके अनुसार कोई कानून नहीं बनने पाया। काँग्रेस को अलग-अलग उपनिवेशो पर कोई वास्तविक अधिकार न था; वह केवल एक सलाहकार संस्था थी, और अधिकार-प्राप्त सरकार की हैसियत से काम करने में असमर्थ रही। जब तक इंगलैण्ड से युद्ध होता रहा, तब तक अलग-अलग राज्यों ने अपने आपसी भेद भावों को छोड़ दिया। बाद में वे अपने संगठन यानी काँग्रेस की उपेक्षा करने लगे। होते होते सन् १७८७ में वर्तमान विधान की रचना हुई, और अमरीका की संघ-सरकार निश्चित रूप से कायम हुई। संघ में शासन, व्यवस्था और न्याय के काम अलग अलग महकमों को सौंपे गए। व्यवस्था के लिए

काँग्रेस की दो सभाओं का संगठन हुआ; सिनेट और प्रतिनिधि-सभा। यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सिनेट में तो अलग-अलग राज्यों के प्रतिनिधि रहें, और प्रतिनिधि-सभा में आबादी के हिसाब से सारी जनता के। शासन-अधिकार राष्ट्रपति (प्रेसीडेन्ट) को दिया गया, जिसकी स्थिति संघ में उसी तरह की थी, जैसी गवर्नरों की अपने-अपने राज्य में। न्यायालयों को व्यवस्था और शासन से अलग रखा गया।

आरम्भ मे इस विधान को केवल एक सुविधा की चीज़ समझा गया। इसे राष्ट्रीय एकता कराने वाला बन्धन नहीं माना गया। राज्यों ने अपना पुराना रवैया जारी रखा। धीरे-धीरे उन्हे संघ-विधान की उपयोगिता मालूम हुई। उनका एक दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास दूर हुआ। रेल और सड़को की उन्नति होने से उनकी जनताओ का मिलना जुलना बढ़ा और वे आपस में मेल और उदारता का व्यवहार करने लगे। अब तक सब उपनिवेश केवल पूरब की तरफ समुद्र-तट पर थे। अब आदमी धीरे-धीरे पच्छिम की तरफ़ भी बढ़ने लगे। इस तरह उपनिवेशो की सख्या बढ़ने लगी, और वे सघ में शामिल होते गये। अब अलग अलग राज्य कुल मिलाकर ४८ हैं।

अमरीका की राष्ट्रीय एकता के पूरा होने मे एक बाधा अभी बनी हुई थी। दक्खिन के राज्यो मे दासता की प्रथा थी, इस से उनका उत्तरी राज्यो से सामाजिक मेल नहीं हो रहा था। दास प्रथा ने इतना फरक पैदा कर दिया था कि दक्खिन वाले अपनी सरकार उत्तर वालो से अलग क़ायम करने के इच्छुक हो गये। परिणाम स्वरूप सन् १८६१ में एक गृहयुद्ध (सिविल वार) हुआ। इसमें आखीर में जाकर दक्खिन के उपनिवेशों की हार हुई। सन् १८६५ में कानून द्वारा अमरीका के संयुक्त राज्यों से

दास-प्रथा उठा दी गई। इससे समानता बढ़ी। और उत्तर तथा दक्खिन के राज्यों का आपस में पूरा मेल हो गया।

अब संयुक्त राज्य अमरीका एक राष्ट्र है, उसकी सरकार संघात्मक है। अलग अलग राज्य उसके अंग है। उन्हे अपने अपने क्षेत्र मे ऐसे अधिकार हैं, जो उनके तथा संघ के विधान द्वारा उन्हे मिले हैं। संघ-सरकार उन सब से ऊपर है, और उसका विधान सामूहिक दृष्टि से उन सब राज्यों के विधान से उच्चतर है। संघ सरकार के हाथों में ऐसे विषय और कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध सब राज्यो से है, जैसे सेना, डाक, तार, रेडियो, टकसाल, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक नीति आदि। अलग अलग राज्यो को वे विषय सौंपे गये हैं, जिन का उस राज्य से ही सम्बन्ध है—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, निर्माण-कार्य, विवाह या तलाक आदि। इस तरह संघ और अलग अलग राज्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार विधान द्वारा निर्धारित हैं। वे एक दूसरे की सीमाओ में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि संघ का किसी राज्य से किसी विषय में विवाद या मतभेद हो तो उसका फ़ैसला संयुक्त राज्य अमरीका की सब से बड़ी अदालत, सुप्रीम कोर्ट करती है। यदि कोई राज्य उसके फ़ैसले को नहीं मानता तो वह बाक़ी सब ४७ राज्यों का विरोधी गिना जाता है, इसलिए कोई राज्य इस का साहस नहीं करता।

अमरीका के संयुक्त राज्य की तरह रूस और स्विटजरलैण्ड आदि देशों में भी संघ-राज्य कायम हैं। सबका इतिहास अलग अलग होने पर भी मूल बात एक ही है—कुछ राज्यों का एकीकरण। किसी संघ-राज्य की ब्योरेवार बातों से हमें मतलब नहीं। यहाँ केवल यह विचार करना है कि इससे मनुष्य कहाँ तक एकता की ओर प्रगति करता हुआ मालूम होता है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य नगर-राज्य से आगे बढ़ कर राष्ट्र-राज्य पर आया। यहाँ आने पर भी उसे अपनी रक्षा और उन्नति के लिए, और दूसरों के अन्याय से बचने के लिए अपनी शक्ति बढ़ाने की ज़रूरत मालूम हुई। इसलिए उसने कई कई राज्यों को मिलाकर संघ-राज्य कायम करने की योजना की, और कुछ बाधाओं, हिचकिचाहट और विफलताओं के बाद कहीं कहीं इसमें उसने सफलता भी पाई। इस तरह संघ-राज्य निश्चय ही राष्ट्र-राज्य से आगे की मंज़िल है। इसमें अपने अगों के गुण दोष मौजूद ररते हैं। यदि इसके अधिकांश अगों या प्रबल अगों में कोई गुण होता है, तो उनके प्रभाव से उस गुण का विस्तार संघ के दूसरे राज्यों में भी हो सकता है। जैसे कि अमरीका के उत्तरी राज्यों में दास-प्रथा के विरोध का भाव था, उन्होने दक्खिन राज्यों को दास-प्रथा का त्याग करने के लिए मजबूर कर दिखाया। इस तरह इस अंश में मानवता का मान हुआ; और, विचारशील सज्जनों की दृष्टि में संयुक्त राज्य अमरीका का गौरव बढ़ा।

परन्तु इसके साथ दूसरी बातें भी विचार करने की हैं। अमरीका में अभी तक वहाँ के काले रंग के हब्शी लोगों के साथ जैसा रोमांचकारी दुर्व्यवहार होता है, वह किसी भी सभ्य और उन्नत कहे जानेवाले राज्य के लिए कलंक की बात है। अमरीका मे वर्णभेद यानी काले गोरे का फरक घातक रूप में मौजूद है। फिर वहाँ लोगो मे पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की अनिष्टकारी आकांक्षा भी भरी हुई है। निदान, संघ-राज्य के लिए न तो यही ज़रूरी है कि वह इन दुर्गुणों से मुक्त रहे, और न यही आवश्यक है कि उसमें इन दुर्गुणों का समावेश रहे। यह तो संघ के अलग अलग राज्यों के बलाबल पर निर्भर है कि वे अपने संगठित रूप

को कहाँ तक मानवता की दृष्टि से आगे बढ़ाते हैं। आवश्यकता है कि हर राज्य अपना आदर्श ऊँचा रखे और भरसक परिश्रम करके तथा कष्ट उठाकर अपने साथी राज्यों की शुद्धि और उत्थान के लिए कटिबद्ध रहे, और विश्व-राज्य के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करने में अपनी सारी शक्ति और सेवाएँ अर्पण कर दे। इस प्रसंग में विशेष विचार आगे किया जायगा।

नवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

—o—

पूर्व युग के मनुष्यों ने छोटे छोटे दलों में समाज की रचना की थी, उन्हीं दलों के लिये राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक नियमों की रचना की थी। किन्तु अब धीरे धीरे वे सारे संसार को संगठित करके ऐसे नियमों को बनाने के प्रयत्न में हैं, जो इस अखिल विश्व की समाज को एक वृहत् संगठन बनाये रखने में सफल हो सकें।

—श्यामबिहारी दुबे

जिस तरह एक आदमी को दूसरे आदमी से मेलजोल करने की ज़रूरत होती है, उसी तरह एक गाँव या नगर को दूसरे गाँव या नगर से, और एक राज्य को दूसरे राज्य से सम्बन्ध कायम करने की ज़रूरत होती है। इस अध्याय में हम विविध राज्यों के एक दूसरे से सहयोग के धीरे-धीरे बढ़ने पर विचार करेंगे। पहले हम यह जान लें कि कि किस तरह दूर-दूर के मनुष्यों में मेल बढ़ा और उन्हें एक दूसरे से आर्थिक या सामाजिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ा।

शुरू ज़माने में आदमी का रहनसहन बहुत सीधा सादा और उसका जीवन बड़ा एकांगी था। जहाँ वह रहता था, वहाँ और उसके पाँच दस मील इधर उधर तक में उसकी सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। उसकी दुनिया बहुत छोटी थी। उसका विचार-क्षेत्र परिमित था, उसका सुख दुख, उसकी दोस्ती दुश्मनी, उसकी सहानुभूति, क्रोध, ईर्षा आदि सभी का क्षेत्र बहुत सीमित था। उसे अपने से ज्यादह दूर रहने वालों से मिलने का प्रसंग बहुत कम आता था, उसके पास जाने के उन्नत साधनों के अभाव में उसका संसार आम तौर पर कुछ गांवों या एक दो नगरो तक ही परिमित रहता था। आदमी अपनी ज़रूरत और सुविधा के अनुसार ही अपनी संस्थाएँ बनाता है और उनके स्वरूप में हेरफेर करता है। इसलिए उस समय के एकस्थानीय या अलहदगी के जीवन मे छोटे छोटे नगर-राज्यों से ही काम चल जाता था।

धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आदमी की ज़रूरतें बढ़ीं; उन्हें पूरा करने के लिए उसे दूर दूर तक दौड़ धूप करनी पड़ी। आने जाने के साधनों की ईजाद और उन्नति हुई। विज्ञान ने आदमी की अधिकाधिक मदद की। इस तरह अठारहवीं सदी से लोगों के आपसी सम्बन्ध में खास तौर से वृद्धि होने लगी। दूरी का सवाल हल होता गया। सैकड़ों और हज़ारों मील के फासले, जिनको पहले तय करना क़रीब-क़रीब नामुमकिन माना जाता था, अब आसान हो गये; न केवल इने गिने खास आदमियों के लिए, बल्कि हज़ारो लाखों आदमियों के लिए। महीनों और वर्षों की यात्राएँ अब दिनों और हफ़्तों की रह गयीं। नतीजा यह हुआ कि स्वावलम्बी ग्राम या नगर-संस्थाओं का अन्त हो चला।

आदमी का निर्वाह अपने गाँव, शहर या निवास-स्थान

की बनी चीज़ों से बहुत कम होने लगा। अब हमें न केवल दूसरे नगरों की, बल्कि अपने देश से बाहर की भी चीज़ों की ज़रूरत होती है। हमारा जीवन निर्वाह दूसरे देशो के सहयोग पर आश्रित है। यह बात किसी भी मामूली गृहस्थ का सामान देखने से ज़ाहिर हो जाती है। संसार के किसी देश पर कुछ संकट आये तो उसका असर हमारी आयात निर्यात पर पड़ता है, और उसकी सूचना हमारे नगरों में ही नहीं, गाँवों मे भी पहुँच जाती है।

भौतिक जगत की बात छोड़कर अब हम जनता का विचार करें। पुराने ज़माने में हर गाँव या नगर में अधिकतर वहाँ के ही निवासी पीढ़ी दर पीढ़ी रहते चले आते थे। उनका अपने पास के स्थानों के निवासियों से कुछ परिचय भले ही हो जाता था, वे दूर देशों के आदमियों के सम्पर्क में नहीं आते थे। अब वह बात नहीं रही। दूर दूर के देशों की जनता के बीच मे उन्हें अलग करने वाली जो दीवारें खड़ी थीं, उन्हें विज्ञान ने बहुत कुछ गिरा दिया है, और अब और भी अधिक तेज़ी से गिरा रहा है। हर देश के थोड़े बहुत आदमी दूसरे देशो मे रहते हैं, और वहाँ कितने ही विदेशियो का बहुत कुछ स्थाई निवास हो जाता है। भारतवर्ष की ही बात लीजिये। साधारण वर्षों मे यहाँ के बीस पच्चीस लाख आदमी खासकर मलाया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि में रहते हैं, यों तो संसार के सभी प्रमुख भागों मे कुछ न कुछ हिन्दुस्तानी मिल जायँगे। इनमें से कुछ को तो विदेशो में रहते पीढ़ियाँ बीत गईं। ये स्वभावतः उन देशों की ही उन्नति और सुख समृद्धि चाहते हैं, और अपनी शक्ति भर उसमें योग देते हैं।

इसी तरह यहाँ भारत में रहने वाले विदेशियों की बात लें। इंगलैण्ड यहाँ से पाँच छः हज़ार मील दूर है, वहाँ के

निवासी अंगरेज़ तो यहाँ के अनेक स्थानों में रहते ही हैं, उनमें से जो इंगलैण्ड की हुकूमत के कारण यहाँ रहते हैं, उनकी बात छोड़ दें, तो कितने ही वैसे भी रहते हैं। फिर बड़े बड़े शहरों—खासकर बम्बई, कलकत्ते और मद्रास आदि में चीन, जापान, इटली, जर्मनी, अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका तक के निवासी रहते पाये जाते हैं। कोई व्यापार धंधा करता है; कोई कल कारखानों मे काम करता है, कोई सरकारी या गैरसरकारी नौकरी में है। इनमे से कितने ही आदमियो की कई पीढ़ियाँ यहाँ ही हो चुकी हैं। इनके लिए भारतवर्ष अपने देश सरीखा हो गया है। ये और इनके अपने देशो मे रहने वाले भाई-बन्धु आदि भी यह चाहते है कि भारतवर्ष मे सुख-शान्ति रहे, उपद्रव न हो, अकाल, बाढ़ आदि का संकट न आये। यह कहा जा सकता है कि उनकी इस शुभकामना का बहुत कुछ कारण उनका स्वार्थ है; यहाँ की सुख-समृद्धि में ही उन्हे अपना हित दिखाई देता है। परन्तु इसी बात की ओर तो हम पाठको का ध्यान दिलाना चाहते हैं। एक देश के हित में, भिन्न-भिन्न और दूर दूर के देशों के आदमी अपना हित समझें, यह अवश्य ही शुभ भविष्य की सूचना है। आज दिन ऐसे लोग कम है तो भविष्य में ये अधिक होते जायँगे। निदान, अब कोई भू भाग, कोई देश बाक़ी संसार से अलग नहीं रह सकता। वैज्ञानिक ईजादों ने दूर दूर के आदमियो का आपसी सम्बन्ध बहुत बढ़ा दिया है। एक देश में होने वाली घटना का असर उसी देश तक सीमित नहीं रहता। अब तो अमरीका मे सोने की मांग बढ़नेपर भारतवासी अपने जेवर बेचने लगते हैं। इंगलैण्ड मे गेहूँ की खपत ज्यादह होने पर हमारी मंडियों में उसका भाव चढ़ जाता है। ऐसी बातें हम हर रोज देखते हैं।

दूर दूर के आदमियों का ऐसा सम्बन्ध बढ़ने के साथ, किसी तरह की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता बढ़ती गयी, और वह कायम की गई। पिछले सवा सौ वर्ष में इसमें बराबर तरक्की हुई है। सन् १८१५ से पहले कोई ऐसी संस्था न थी, जिसमे अलग-अलग देशों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार करने के लिए भाग ले सकतीं। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी पड़ी। 'करनी पड़ी' इसलिए कहा जाता है कि ऐसी हर संस्था की स्थापना के लिए यह ज़रूरी था कि जो राज्य उस से सम्बन्ध रखे, वह अपनी थोड़ी बहुत स्वाधीनता का त्याग करे—अपनी कुछ प्रभुता, और अपने कुछ कल्पित 'राष्ट्रीय हितो' का अन्तर्राष्ट्रीय हितो के लिए त्याग करे। इसके लिए उसे यह निश्चय हो जाना अत्यन्त आवश्यक था कि उसके अपने क्षेत्र का असली हित-साधन उसी हालत मे होगा, जब वह पहले पूरी दुनिया के हित की तरफ ध्यान दे। व्यक्तियो की भांति, सस्थाओं और राज्यो की समझ में यह बातें जल्दी नहीं आतीं कि हमारा हित दूसरो के हित के साथ इस तरह मिला हुआ है कि सब का हित साधन करने से हमारा हित खुदबखुद सिद्ध हो जाता है, और यदि हम में से हरेक केवल अपने स्वार्थ का विचार करता रहे तो किसी का भी असली और स्थायी हित साधन नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करने की जरूरत पहले पहल व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में 'डाक-संघ' (पोस्टल यूनियन) कायम हुआ। इस संघ से जो-जो सुविधाएँ हुईं, उनका अनुमान इस से पहले की परिस्थिति का विचार करने से अच्छी तरह हो सकता है।

पहले हर राज्य डाक का अलग-अलग महसूल ठहराता था, और उस राज्य की सीमा से बाहर जाने वाले खत-पत्रों का महसूल पत्र पाने वालों (विदेशियों) को देना पड़ता था। इस से बड़ी असुविधा और गड़बड़ होती थी। डाक महसूल की दर अलग-अलग रास्तों के अनुसार अलग-अलग थी—जैसे जर्मनी से आस्ट्रिया पत्र भेजने की तीन दर थीं; अमरीका से आस्ट्रेलिया पत्र भेजने में हर आधे औंस वज़न का महसूल किसी रास्ते से पाँच सेंट तो किसी रास्ते से १०२ सेंट तक था। आखिरकार यह असह्य मालूम होने लगा, और बहुत से राष्ट्रों ने मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय डाक की व्यवस्था की।

इसी तरह धीरे-धीरे तार, बे तार के तार, और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध किया गया, जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय हित यानी सब देशो की भलाई के सामने परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों को दबना पड़ा। सन् १९१३ में इस तरह की ३३ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कायम हो चुकी थीं।

जब कि अलग-अलग देशों की सरकारें इस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बना रही थीं, उन देशों के कुछ नागरिक अपने हितो को मिलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर रहे थे। सब से पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस शायद सन् १८४० की, लन्दन मे होने वाली दासता-विरोधी सभा थी। यह संभा अलग अलग राज्यों के प्रतिनिधियों की नहीं थी, बल्कि उन राष्ट्रों के व्यक्तियों की थी। सन् १८४०-४९ में ९ अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुईं। अस्सी वर्ष बाद सन् १९२०-२९ में इनकी तादाद लगभग उन्नीस सौ तक पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ

इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का कुछ अनुमान, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के काम से हो सकता है। मशीनों और कल कारखानो का प्रचार बढ़ने से उन मे काम करने वाले मजदूरों की सुरक्षा का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य मे पैदा हो गया था। सन् १६०० मे पेरिस में मजदूरो की 'कानूनी हिफ़ाज़त के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सभा' कायम हुई। इसके दो अधिवेशन सन् १६०६ और सन् १६१३ मे बर्न (स्विटज़रलैण्ड) मे हुए। पिछले महायुद्ध (१६१४-१८) के समय इसका काम अस्त व्यस्त हो गया। पर रूस के बोलशेविक आन्दोलन ने मजदूरो के सवाल को महत्व दे दिया। सन् १६१६ मे वर्न नगर में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ परिषद हुई। उसमें यह तय हुआ कि पूँजीपतियो और मजदूरों में सहयोग कायम किया जाय।* वारसाई के सुलह-नामे में मज़दूर संघ का विधान दिया गया और बताया गया कि मजदूरों की हालत बहुत खराब और दर्दनाक है और उसमें जल्द सुधार होना ज़रूरी है। सुलहनामे में विविध राष्ट्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे लिखे सिद्धान्त दर्ज किये गये—(१) मजदूरी को बाजारी क्रय विक्रय (खरीद-फरोख्त) की चीज न माना जाय, यानी मजदूर ज्यादह मिलने से फायदा उठाकर मजदूरी कम न दी जाय। (२) मजदूरों और पूँजीपतियों दोनों को वैध आन्दोलन के लिए संगठन करने या सस्थाएँ बनाने का

* श्री० एफ० जी० विल्सन ने लिखा था कि इस सगठन का उद्देश्य शायद यह है कि कुछ थोड़े से ऐसे छोटे मोटे सुधार कर दिये जायँ, जिनसे पूँजीपतियों के खिलाफ सामाजिक क्रान्ति का खतरा जाता रहे।

अधिकार रहे। (३) मजदूरी की दर देश काल और निखों के अनुसार काफी रखी जाय। (४) जिन देशो में मजदूरों के लिए आठ घंटे का दिन और ४८ घंटे का सप्ताह नहीं माना जाता, उनमें इसे मनाने की कोशिश की जाय। (५) हर सप्ताह में मजदूरो को एक दिन की छुट्टी मजदूरी (वेतन) समेत दी जाय; वह दिन जहां तक हो सके, रविवार हो। (६) छोटे बालकों से मजदूरी का काम कराना बन्द किया जाय; बड़े लड़कों से ऐसा ही काम लिया जाय जिसके उनकी शिक्षा और शारीरिक उन्नति में बाधा न हो। (७) पुरुषो और स्त्रियों को बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी दी जाय। (८) मजदूरों के काम और मजदूरी आदि का जो ढंग कानून से तय हो, वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो। (९) हर राष्ट्र अपने यहां ऐसा प्रबंध करदे कि ऊपर लिखे सिद्धान्त ठीक-ठीक तौर से अमल मे आते हैं या नहीं, इसकी जांच हुआ करे, और उस जांच में स्त्रियां भी भाग लिया करें।

अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ में राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्र तो थे ही, दूसरे राष्ट्र भी उसमें शामिल हो सकते थे। इस संघ के क्षेत्र के विस्तार का कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि इसमें ५६ राष्ट्रों के चार-चार प्रतिनिधि शामिल थे—दो तो हर राष्ट्र की सरकार के, एक वहां के पूँजीपतियों का, और एक मजदूरों का। पूँजीपतियों और मजदूरो के प्रतिनिधियो को उनकी अपनी संस्थाओं की राय से, वहां की सरकार नियुक्त करती थी।

इस संघ की दो संस्थाएँ थीं—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद और अन्तराष्ट्रीय मजदूर कार्यालय। परिषद केवल प्रस्ताव पास करती और सिफारिश करती थी। वह किसी विषय का कानून नहीं बना सकती थी। जिस राज्य की व्यवस्थापक सभा उचित

समझती, वही उस विषय का कानून बनाती थी। परिषद में अंगरेजी और फ्रांसीसी ये दो भाषाएँ बरती जाती थीं। अधिवेशन जेनेवा में होता था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय भी जेनेवा में ही था। यह कार्यालय परिषद के प्रस्तावों पर अमल करता था और परिषद की सिफारिशों को अलग अलग राज्यों की सरकारो से मजूर कराता था। यह संघ मजदूरों और पूँजीपतियों की अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओं पर भी विचार करता था। सघ के कार्यकारी मडल के स्थायी सदस्य ऐसे देशो के होते थे, जिनका औद्योगिक महत्व माना जाता था, जैसे बेलजियम, केनेडा, फ्राँस, जर्मनी, इंगलैण्ड, जापान, इटली और भारतवर्ष। इस विशाल संस्था का इतना सा परिचय भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का अच्छा सूचक है।

राष्ट्र-सघ का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य

अब हम इसी तरह की एक और संस्था के सम्बन्ध मे लिखते हैं, जिसका क्षेत्र इससे सी अधिक फैला हुआ था। यह है राष्ट्र-संघ या 'लीग-आफ-नेशन्स'। इसकी स्थापना जेनेवा में पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९१९ मे हुई। इसका मुख्य उद्देश्य शान्ति कायम करना या युद्ध निवारण था, पर उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी; यहाँ हम उसके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य पर ही विचार करेंगे। पहले संक्षेप में इसका संगठन जान लेना चाहिये।

इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम बाहरी हमलों से एक दूसरे की रक्षा करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नहीं करेंगे,

जब तक कि अपने झगड़ो को पचायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रख लें, और तीन महीने का समय फैसले के लिए न गुजार दें ; जो राष्ट्र अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ेगा वह और सब सदस्थ-राष्ट्रो का विरोधी समझा जायगा, और उन सब का यह कर्तव्य होगा कि प्रतिज्ञा भंग करने वाले सदस्य-राष्ट्र से आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दें।

राष्ट्र-संघ की नीचे लिखी तीन समितियाँ थीं—(१) असेम्बली (२) कौंसिल और (३) सेक्रेटेरियट । इन से मिली हुई कुछ विशेष कार्य करने वाली और सलाह देने वाली समितियाँ भी थीं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। असेम्बली के सदस्य वे सब राज्य थे, जो राष्ट्र-सघ के सदस्य थे। हर सदस्य-राज्य को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, परन्तु उसका मत एक ही होता था। असेम्बली के अधिवेशन जेनेवा में होते थे; हर साल प्रायः एक अधिवेशन होता था। कौंसिल के कुछ सदस्य स्थायी, और कुछ अस्थायी होते थे। इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली आदि स्थायी सदस्य थे, जिनका कभी चुनाव नहीं होता था। इनका प्रभाव भी बहुत अधिक था । कौंसिल के अधिवेशन प्रति वर्ष कम से कम चार होते थे। वह साल भर तक अपना काम कमीशनों और समितियों द्वारा करती थी।

सेक्रेटेरियट कार्यालय के नीचे लिखे १२ विभाग थे—(१) राजनैतिक विभाग, (२) आर्थिक विभाग, (३) रफ्तनी विभाग, (४) प्रबन्ध कमीशन और अल्पसंख्यक विभाग, (५) आदेशयुक्त शासन विभाग, (६) निशस्त्रीकरण विभाग, (७) स्वास्थ्य विभाग, (८) सामाजिक विभाग (९) बौद्धिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय (व्यूरो) विभाग, (१०) कानून विभाग, (११) सूचना विभाग, (१२) राजस्व विभाग।

इनके अलावा कार्यालय सार-संग्रह, अनुवाद, प्रकाशन आदि का भी काम करता था।

राष्ट्र-संघ की कई सहायक संस्थाएँ थीं। इनमें से कुछ स्थायी थीं, जो संघ के सब तरह के काम किया करती थीं; और कुछ अस्थायी थीं, जो आवश्यकता होने पर बना ली जाती थीं। ये सहायक संस्थाएँ दो तरह की थीं— (१) खास कामों के लिए विशेषज्ञों की समितियाँ, (२) परामर्श समितियाँ। विशेषज्ञों की समितियाँ तीन थीं—(क) अर्थ और राजस्व समिति (ख) रफ्तनी समिति, और (ग) स्वास्थ्य समिति। अर्थ और राजस्व समिति ने कई ऐसे देशों के आर्थिक पुनर्गठन की योजनाएँ बनायीं, जिनकी आर्थिक साख और मुद्रा यानी टकसाल नीति को पिछले योरपीय महायुद्ध के कारण धक्का लगा था। इसकी योजनाओं के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध किया। मिसाल के तौर पर राष्ट्र-संघ की सहायता से सन् १९२२ में आस्ट्रिया दिवालिया होने से बच गया, उसके बजट का संतुलन हो गया, वहाँ के सिक्कों का मूल्य ठहर गया, बैङ्कों की बचत बीस गुना हो गयी, लोगों के रहन-सहन का खर्च कम हो गया और बेकारी घटकर काबू में आ गयी। सन् १९२४ में दूसरे देशों की तरह आस्ट्रिया में भी आर्थिक संकट आया, परन्तु राष्ट्र-संघ की सहायता से वह उसका सामना कर सका। चौदह वर्ष राष्ट्र-संघ द्वारा सूत्र संचालित होने पर सन् १९३६ में आस्ट्रिया ने स्वयं अपना कार्य संभाला और राजस्व का उत्तरदायित्व ग्रहण किया।*

रफ्तनी समिति के सुपुर्द यह काम था कि भिन्न भिन्न देशों के बीच होने वाली रफ्तनी स्वतंत्रता पूर्वक हो सके, और यदि

* A Lasting Peace नाम की पुस्तक के आधार पर।

कोई बाधा हो तो उसके विषय में समिति राष्ट्र-संघ की कौंसिल को परामर्श दे। इस संस्था ने इस विषय की पुरानी संस्थाओं को भी रहने दिया, और उनके कार्य को अधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया।

स्वास्थ्य समिति के काम की मिसाल यह है कि इसने एक मलेरिया कमीशन नियुक्त किया था, जो संसार के विविध देशो में जाकर इस रोग की जांच करे, और इस रोग के नष्ट होने के उपाय सुझावे। इस कमीशन के सदस्यों में विविध राष्ट्रो के विशेषज्ञ थे और उन्होने पैलेस्टाइन, स्पेन, संयुक्त राज्य अमरीका, यूगोस्लेविया, इटली, बलगेरिया, यूनान, रूस और भारत आदि देशो में जाकर वहाँ मलेरिया फैलने की अवस्था, लोगों के रहन सहन, मलेरिया फैलाने वाले मच्छरो की आदतें आदि बातो और इस रोग को न फैलने देने के उपायो पर विचार किया। उनकी इस विषय की रिपोर्ट अनेक जानने योग्य बातों से भरी थी, वह विविध राज्यो के स्वास्थ्य विभागो के अधिकारियों के पास भेजी गयी। इस तरह संसार में फैले हुए इस रोग की रोक और इलाज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मेल जोल बढ़ाने का कार्य किया गया। स्वास्थ्य समिति एक साप्ताहिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती थी; उसमे प्लेग, चेचक आदि के उन रोगियो का ब्योरा रहता था, जो बन्दरगाहो में हों, जहाँ से रोग संसार के विविध देशो मे फैल सकते हैं। समिति का एक दफ्तर सिंगापुर में था, जो हर रोज यहाँ से होकर एशियाई बन्दरगाहों में आने वाले यात्रियों की बीमारियों के बारे में बेतार के तार द्वारा समाचार भेजता था।

राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञों के काम के उदाहरण-स्वरूप यह कहना है कि उनकी सन् १९३० की कमेटी की रिपोर्ट से चीन की

सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, रेल सड़क आदि, अर्थ और राजस्व, शिक्षा, और बाढ़ से रक्षा आदि विषयो मे लाभ उठाकर अपने देश का बहुत सुधार किया।

राष्ट्र-संघ को परामर्श देने वाली मुख्य मुख्य संस्थाएँ ये थीं—१—निशस्त्रीकरण कमीशन, २—जल-थल-वायु सेना कमीशन, ३—आदेश (मेंडेट) कमीशन। ४—बालको और लड़कों के स्वास्थ्य और रक्षा सम्बन्धी कमीशन। ५—अफीम और दूसरे विषैले पदार्थों के अनियमित क्रय विक्रय सम्बन्धी कमीशन, ६—सहकारिता कमीशन। ये समितियाँ अपने अपने विषय की ऐसी सामग्री तैयार करती थीं, जो राजनैतिक संस्थाओं के सामने रखी जा सके।

राष्ट्र-संघ के विधान में कहा गया था कि स्त्रियों और बच्चो की, और अफीम और विषैली चीज़ों की ख़रीद बिक्री के बारे में राष्ट्रों के बीच जो इकरार हुए हैं, वे कहाँ तक काम मे आते हैं, उसकी जाँच की जाय। राष्ट्र-संघ ने इस जाँच के अलावा गंदे या अश्लील साहित्य को एक देश से दूसरे देश में जाने से रोकने, जहाँ दास-प्रथा थी उसे बन्द करने, युद्ध के निराश्रित सिपाहियों को सहायता पहुँचाने, और युद्ध के असमर्थ कैदियो को उनके घर पहुँचाने का भी उद्योग किया। अफीम और दूसरी नशीली चीज़ो की ग़ैर-क़ानूनी बिक्री को रोकने के लिए संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामा तैयार किया और उस पर विविध राष्ट्रों की सम्मति और दस्तख़त हासिल करने की कोशिश की।* इसी

* राष्ट्र-संघ न तय किया था कि किसी देश से अफीम की निर्यात उतनी ही हो, जितनी औषधियों के लिये ज़रूरी हो। पहले भारत सरकार बहुत सी अफीम चीन भेजती थी। अफ़ीम सम्बन्धी समझौते पर दस्तख़त करने वालों में भारत-सरकार के भी होने से, यह अनैतिक व्यापार बन्द हो गया।

तरह संघ ने स्त्रियो और बच्चो की ख़रीद बेच को रोकने का उद्योग किया। सघ ने दो कमेटियाँ बनाईं, जिनमें से एक अफ़ीम के यातायात के सम्बन्ध मे और दूसरी बच्चो और लड़को की रक्षा और स्वास्थ्य के विषय में काम करती थी। संघ का सामाजिक विभाग इन दोनो कमेटियों के दफ्तर का काम करता था।

बौद्धिक सहकारिता कमेटी सन १९२२ मे क़ायम हुई थी। यह, बौद्धिक सहकारिता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर विचार करती और संसार में बौद्धिक सम्बन्धो की वृद्धि करने का कार्य करती थी। यह स्पष्ट ही है कि विविध राष्ट्रो के विद्वानो के पारस्परिक सम्पर्क से वैज्ञानिक उन्नति और शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण होने मे सहायता मिलती है।

राष्ट्र-संघ के काम मे दूर दूर के, अलग अलग समाजो के, स्त्री-पुरुष शामिल थे। इनमे राजनीतिज्ञ, मजदूर और वैज्ञानिक सभी तरह के लोग थे। इनकी संस्कृति, रहन सहन आदि अलग अलग तरह के थे। पर सब के मन मे एक सीमा तक यह विचार रहता था कि हमे एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी भावना का हितकर प्रभाव केवल राष्ट्र-संघ के प्रधान कार्यालय तक ही परिमित नहीं रहा, बल्कि दूर दूर के देशो पर भी पड़ा।

ब्राज़ील के एक विद्वान एम० आर० फ़र्नेंडिस के सन् १९२५ के नीचे लिखे कथन से, राष्ट्र-संघ के महत्व और प्रभाव पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। "अन्याय का निषेध करने, षडयन्त्रो को रोकने, और लोगों की न्यायमूलक माँगो के अनुकूल लोक-मत बनाने के लिए कोई पुस्तक, समाचारपत्र या किसी राजनीतिज्ञ का पत्रव्यवहार उतना काम का नहीं है, जितना

राष्ट्र-संघ की असेम्बली का मंच है। इस मंच पर खड़े होकर जो आदमी व्याख्यान देता है, वह ५५ देशो के प्रतिनिधियो को को लक्ष्य करके बोलता है।.....दो सौ से अधिक अखबारों के प्रतिनिधि सङ्घ की असेम्बली में मौजूद थे। उन्होने जेनेवा के समाचार और टिप्पनियो का, और अपने मन पर पड़ी हुई छाप का, प्रकाशन सभ्य जगत मे किया था। बहुत सी शान्ति-संस्थाओं के, खासकर संयुक्त राज्य अमरीका के सवाददाता या प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित हुए थे। गुणो और परिमाण के विचार से, किसी विषय का जितना प्रचार असेम्बली के द्वारा होता है, उतना किसी दूसरी सस्था के द्वारा नहीं हो सकता। और, यह प्रचार लोकतंत्रवादी सरकारो पर लोकमत का प्रभाव डालने के लिए बहुत ही सफल होता है।"

ऊपर के विवेचन से ज़ाहिर है कि खासकर पिछले सौ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सम्बन्ध चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का संगठन हो, विविध राज्यो के एक दूसरे से संघर्ष का अन्त हो, और संसार मे शान्ति बनी रहे। इस दिशा में हमने कहाँ तक प्रगति की है, इस का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

—:o:—

दसवां अध्याय

शान्ति के प्रयत्न

शान्ति की विजय युद्ध की विजयो की अपेक्षा अधिक स्थायी और दृढ होती है। —एन० एम० कुलकर्णी

प्रिंस पीटर क्रोपोटकिन ने कहा है एक ही युद्ध से, युद्ध के समय और उसके बाद इतनी हानि हो सकती है, जितना सैकड़ों वर्ष के लगातार आपसी मेल मिलाप से लाभ हो। इससे जाहिर है कि युद्ध को बन्द करने और शान्ति बनाये रखने की कितनी जरूरत है। इस अध्याय में हम ऐसे प्रयत्नो के बारे में लिखेंगे, जिनका मुख्य उद्देश्य आपस के लड़ाई झगड़ो को मिटाना रहा है।

बहुत ही पुराने ज़माने की बात छोड़ कर यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यो ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धों को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो युद्ध में भी एक निश्चित आचरण को अमल मे लाना था। इन यूनानी राज्यों ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरो को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचावेंगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नही डालेंगे, और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे। यह बात बहुत शिक्षाप्रद है कि जब यूनानियों ने अपनी इस प्रतिज्ञा की अवहेलना की, तभी से उनका राजनैतिक और सांस्कृतिक पतन शुरू हो गया।

इसके दो सौ वर्ष बाद बौद्ध सम्राट अशोक एक संस्था के रूप में अनेक राज्यों के सामने आता है, वह दूसरे देशो को जबरदस्ती विजय करने की प्रथा बन्द करता है और स्वयं अपनी मिसाल और अपनी राजकीय आज्ञाओं द्वारा प्रेम, शांति और सहिष्णुता के लिए अपील करता है। उसके एक शिला-लेख का कुछ अंश यह है—"हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उनमें कभी देश विजय की प्रवृत्ति पैदा हो तो वे उसे रोक कर शान्ति और नम्रता में ही आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल (इस लोक और पर-लोक) दोनो मे सुख होगा।"

इसके बाद जिसे यूरोप वाले 'मध्य युग' कहते है, उसमें वहाँ के ईसाई देश धार्मिक बन्धुत्व मानते थे, यानी यह कि एक धर्म के मानने वाले सब भाई-भाई हैं; और पोप जो कि ईसाई धर्म का सबसे बड़ा आचार्य था, उन सब के झगड़े निपटाया करता था। उसकी मध्यस्थता से कई ऐसे झगड़े शान्त किये गये, जिनसे यूरोप की शान्ति भंग होने की आशंका थी मध्य युग के बाद पुनरुत्थान ('रिनेसाँ')-काल में, यूरोप में धार्मिक भाईचारे का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। फिर भी वहाँ के विचारशील आदमी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के बारे में विचार करते और लिखते रहे; इनमें डेन्टे, इरेस्मस, ग्रोटस, रूसो, केन्ट और बेन्थम आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

यूरोप के विविध राज्यों का संगठन करने का कुछ विशेष प्रयत्न सन् १८१५ में हुआ। उस समय रूस के ज़ार अलेग्ज़ेन्डर पहले के नेतृत्व में रूस, प्रशिया और अस्ट्रिया के शासकों ने 'पवित्र-सङ्घ' ('होली एलायंस') की योजना की, जिसमें उन्होंने यह प्रतिज्ञा

की कि हम सब ईसाई-धर्म-सिद्धान्तो के अनुसार राज्य करेंगे, और, आपस मे लड़ाई झगड़ा न करेंगे। यह योजना भी बहुत समय तक न चली। वैज्ञानिक साधनों के बढ़ने के साथ साथ बलवान राष्ट्रो की शक्ति और बढ़ गयी, वे निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन करने लगे। संघर्ष बढ़ चला। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी यूरोप में बहुत समय तक घातक युद्ध हुए। युद्ध की आशका हर समय बनी रहने लगी।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि पिछली सदी के युद्ध अधिकतर 'शक्ति-संतुलन' कायम रखने के बहाने लड़े गये। यूरोप की राजनीति का एक मुख्य सिद्धान्त 'शक्ति-संतुलन' रहा। एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण राज्य गुप्त संधियाँ और गुटबन्दी करते रहे। हर पक्ष ने यह कोशिश की कि उसकी शक्ति विरोधी पक्ष से किसी तरह कम न रहे, यदि उससे अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य हो। इसे ही 'शक्ति-संतुलन' नीति कहा गया है। प्रसिद्ध लेखक नार्मन एञ्जल ने एक लेख में कहा था—'हमारे (अँगरेजो के) हित प्रत्यक्ष रूप से यूरोप में नहीं है, वे समुद्र पार के देशों मे हैं। उन हितों को हम उसी समय तक सुरक्षित रख सकते है, जब तक यूरोप के किसी एक राज्य की शक्ति दूसरे राज्य की शक्ति से बढ़ने न पावे। परन्तु यदि यूरोप का कोई राज्य—नेपोलियन के अधीन फ्रांस या कैसर विलयम के अधीन जर्मनी—यूरोप के अन्दर की प्रतिद्विन्दता से इतना मुक्त हो जाय कि वह निर्विघ्न अपनी सारी शक्ति हमारे विरुद्ध लगा सके तो संतुलन सिद्धान्त के अनुसार हमारे संसार भर में फैले हुए समुद्र पार के उपनिवेशों की रक्षा खतरे में पड़ जायगी।'

शक्ति-संतुलन सिद्धान्त का यह आधार कैसा कमजोर है,

यह सहज ही समझ में आ सकता है। स्वार्थ, आशंका, भय, और अविश्वास उसकी जड़ में है। ऐसे कमज़ोर आधार पर शान्ति बनाये रखने की आशा दुराशा मात्र है।

आखिरकार, युद्धो की वृद्धि और विनाशकता ने जनता की नींद हराम कर दी। विचारवान आदमी युद्धो को समाप्त करने, और यदि ये समाप्त न हों तो कम से कम इन्हे घटाने या नियन्त्रित करने के उपाय सोचने लगे। महाकवि टेनिसन ने लोगों के सामने उस उज्ज्वल भविष्य का चित्र पेश किया, 'जब लड़ाई का बाजा बजना बन्द हो जायगा, युद्ध-पताकाएँ लपेट दी जायँगी, और मनुष्य मात्र की पालिमेंट और संसार भर का सङ्घ क़ायम होगा।'

विश्व-शन्ति और आपसी समझौतो के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सभा सम्मेलनों की धूम मच गयी। उनकी तादाद बराबर बढ़ती गई। उनमे खास महत्व की वे अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सें हैं, जो सन १८९९ और १९०७ मे हालैण्ड के हेग नगर मे हुई। उन दोनों को 'मानव जाति की पार्लिमेंट' कहा गया है। उनकी योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती न्यायालय कायम किया गया, जिस में सब राज्य अपने विवादग्रस्त मामले पेश कर सकते थे। शुरू में इस न्यायालय ने राज्यो के बहुत से मामले तय किये और इस का फैसला उन राज्यो ने माना। पर इस न्यायालय की उन्नति बहुत सन्तोषप्रद न रही।

पहले यूरोपीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र-सङ्घ के द्वारा सन् १९२२ में हेग नगर में ही एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ। इसे 'स्थायी' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह हमेशा काम करने के लिए था। इससे पहले का न्यायालय हर बार ज़रूरत पड़ने पर नये जज चुनकर बना लिया जाता था। स्थायी

न्यायालय के दो काम थे—दो या अधिक राज्यों के बीच का जो झगड़ा सामने आवे, उसका फैसला करना, और राष्ट्र-सङ्घ समय समय पर जो विषय उसके सुपुर्द करे, उस पर सलाह देते रहना। इसका फैसला मानना उन्ही राज्यो का फर्ज होता था, जिनमें झगड़ा होता था; दूसरे राज्यों या दूसरे विषयों पर इसका कोई बन्धन न था, हां इसके फैसले आखरी होते थे, उनकी कहीं अपील न थी।

राष्ट्र-संघ का काम

अब हम १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सब से बड़ी कोशिश का कुछ विस्तार से ज़िक्र करते हैं, जिससे मालूम हो जाय कि इस काम में कहाँ तक तरक्की हुई, और क्या कमी रही। यह कोशिश राष्ट्र-सघ नाम की संस्था द्वारा की गयी, जो सन् १९१९ मे कायम हुई। इस का संगठन पहले बताया जा चुका है। इसने तय किया कि हर राष्ट्र की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जांच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय। ऐसी योजनाओं पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सब की रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच-बचाव का अर्थ है, शान्ति के साथ आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य मे युद्ध के साधनो की ज़रूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रो के शान्तिमय विचारो पर निर्भर होती है, इसलिए राष्ट्र-संघ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एक साथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटा कर रखें।

राष्ट्र-संघ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके कौसिल को रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-संघ का अलग-अलग राज्यो पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किये, जिनमें पन्द्रह बीस काफी गहरे थे। एक मिसाल यहाँ दी जाती है। अक्तूबर १९२५ में बलगेरिया राज्य की सीमा पर एक यूनानी संतरी को गोली मार दी गयी। तीन दिन में यूनान की सेना ने बलगेरिया पर चढ़ाई करदी। इस मौके पर राष्ट्र-सघ ने तुरन्त दखल देकर आक्रमण रोक दिया। साथ ही राष्ट्र-संघ की कौसिल ने सर एच० रम्बोल्ड की अध्यक्षता में एक निस्पक्ष कमीशन इस लिए भेजा कि मौका देखकर झगड़े का मूल कारण मालूम करे, इस बात की जाँच करे कि दोष किस का है, और ऐसी घटना फिर कभी न होने पावे, इस के लिए उपाय सुझावे। यह काम बिना हिचक के किया गया। जब फिर कौसिल की मीटिंग दिसम्बर में हुई, तो यूनान ने हर्जाने के तौर पर पेंतालीस हजार पौड देना मंजूर किया और दोनों राज्यों की सरकारों ने भविष्य में ऐसी घटनाओ को रोकने के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ की योजना मान ली।

इस तरह संघ को शुरू में खासी सफलता मिली। पर पीछे यह बात न रही। सन १९२९ में ससार में आर्थिक संकट हुआ, तो सब राष्ट्र अपनी-अपनी घरू समस्याओ में लग गये, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, खासकर जब कि झगड़े यूरोप से बाहर के थे। सितम्बर १९३१ की एक बात लें। जापानी सेना ने चीन के मंचूरिया प्रान्त के मकदन नगर पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। इस

पर संघ की कौंसिल की बैठक मे चीन के प्रतिनिधि ने जाँच कमीशन नियुक्त किये जाने का आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि इसके खिलाफ था; अमरीका ने भी कमीशन मे भाग लेना पसन्द नहीं किया। इस लिए राष्ट्र-संघ ने इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। जापान का हमला बढ़ता गया। आखिर जैसे तैसे कमीशन मुकर्रर हुआ, और उसने अपनी रिपोर्ट दी। समझौते की कोशिश की गई। जापान की सरकार ने कमीशन की तजवीजें मन्जूर न कीं, और अन्त मे मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्र-संघ से त्यागपत्र देकर अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

राष्ट्र-संघ इस मामले में बुरी तरह असफल रहा। इस का कारण उसके स्थायी सदस्यो की कूटनीति और अपने अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। अगर वे दृढ़ता के साथ शान्ति का प्रयत्न करते तो अकेला जापान उनके विरोध करने का तो क्या, उन्हे अप्रसन्न करने का भी साहस न कर सकता। 'यदि तोकियो (जापान) से राष्ट्र-सघ के बाकी सब सदस्य अपने-अपने राजदूतों और मंत्रियो को बुला लेते तो जापानी सरकार तुरन्त ही अपने युद्धवादियों को दबा देती। यदि जापानी युद्धवादियों को यह मालूम हो जाता कि युद्ध के लिए उनको दूसरे देशों से अस्त्र-शस्त्र और पेट्रोल आदि न मिलेंगे तो वे कभी भी रणभूमि मे कदम न रखते। अगर जापान का माल दूसरे देशो में न लिया जाता तो जापान का 'येन' सिक्का इतनी जल्दी गिर जाता कि आर्थिक कारणो से ही जापान को शीघ्र युद्ध बन्द कर देना पड़ता। इसमें भी कुछ शक नहीं कि अगर ग्रेट ब्रिटेन ने ही इन साधनों में से किसी का उपयोग किया होता तो सारा संसार उसका साथ देता।'

राष्ट्र-संघ की शिथिलता से और उसके मेम्बरों की अनुदारता और तुच्छ स्वार्थपरता से जापान को अन्तर्राष्ट्रीय हित के विरुद्ध काम करने की हिम्मत हुई. इससे चीन को तो नुकसान पहुँचा ही, राष्ट्र-संघ के आदर्शों और उद्देश्यो को भी गहरा धक्का पहुँचा। निशस्त्रीकरण परिषद का काम पहले भी ईमानदारी से नहीं हो रहा था, अब तो वह परिषद निर्जीव ही हो गई। उसमे हिस्सा लेने वाले राज्यों ने अपने शस्त्रास्त्र या हथियार कम करने की नीति छोड़ दी। जापान की मिसाल से इटली का भी हौसला बढ़ा, उसने अबीसीनिया यानी इथियोपिया को धर दबाया। राष्ट्र-सङ्घ के ढीलेपन और निकम्मेपन ने ही जर्मनी में हिटलर की शक्ति बढ़ाई। यूरोप में अनेक उलटफेर हुए, जिनका आखरी नतीजा इस समय का महायुद्ध है, जो १९३९ मे शुरू हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रो पर है, जिन्होने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताक़त और अपने असर का उपयोग न किया।

कुछ लोगो की राय है कि राष्ट्र-सङ्घ के पास अन्तर्राष्ट्रीय सेना ज़रूर होनी चाहिए थी। यह सेना फ्रांस की विदेशी सेना के ढंग पर होती। * अगर राष्ट्र-संघ के पास काफी सेना होती

* फ्रास की विदेशी सेना मे ससार के प्राय सभी जातियों या राष्ट्रों के लोग शामिल थ, उसके अफसरो मे एस्किमो, इटेलियन, अग्रेज, जुलू, ईरानी और चीनी भी थे। अलग-अलग जातियों या राष्ट्रों के लोगों के मेल से उनके जीवन पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता था; उसके सैनिकों मे झगड़े बहुत कम होते थे। वह सब तरह के अस्त्र शस्त्रों से लैस थी, उसे बिल्कुल आधुनिक ढंग की युद्ध-शिक्षा दी जाती थी, और धीरे-धीरे फ्रांसीसी भाषा सिखायी जाती थी।

तो सङ्घ अलग अलग राज्यों के आपस में लड़ने का मौका न आने देता और संसार में शान्ति बनाये रखने में सफल होता। लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि राष्ट्र-संघ मे कुछ इने गिने बहुत बलवान राष्ट्रों का बोलबाला था। अगर राष्ट्र-संघ की मातहती मे बहुत सेना रहती तो वह उन राष्ट्रो के ही इशारे पर तो काम करती।

कुछ राजनीतिज्ञो का कहना है कि राष्ट्र-सघ की विफलता का कारण उसके विधान यानी नियमो की खराबी थी। परन्तु असली बात यह है कि संघ के सदस्यो में सचाई, हिम्मत, दूसरों की भलाई का ख्याल, और अपने उद्देश्य के लिये कष्ट सहने और और त्याग करने की भावना होती तो उनकी संस्था, विधान में दोष होते हुए भी सफलता के साथ काम करती रहती। जब सदस्यों में इन गुणो का अभाव या इनकी कमी होती है तो संस्था का काम कभी ठीक-ठीक नहीं चल सकता और वे विधान की बारीकियों में उलझ जाते हैं, और अपनी विफलता का दोष विधान पर मढ़ा करते हैं। राष्ट्र-संघ का विधान बड़े-बड़े राष्ट्रों ने बनाया था, यदि उनमें अपने उद्देश्य के लिए लगन होती, यदि वे सबके भले की भावना से प्रेरित रहे होते, यदि वे विश्व-शांति के प्रश्न को उतना ही महत्व देते जितना अपने-अपने राष्ट्रों की रक्षा को, और उसके लिए काफी जोखम उठाने तैयार रहते तो राष्ट्र-संघ को यह दुर्दिन देखने का मौका न आता; राष्ट्र-संघ जिन्दा रहता और जरूरत के मुताबिक वह अपने विधान में भी परिवर्तन कर लेता। जीवित संस्थाएँ अपने विधान में देश और काल के अनुसार सुधार किया ही करती है।

जो हो, संघ की विफलता का दोष उसके विधान पर मढ़ना उचित नहीं है। संघ का संगठन ही ठीक नहीं था। कहने को तो

उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला हुआ था, पर असल में उसकी बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यों के हाथ में थी, जिन्होने अनेक भू-भागों को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करने वालों में होनी बहुत जरूरी होती है। वे कहीं सभ्यता फैलाने के नाम से, कहीं दूसरो को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कही निर्बलो या अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की आड़ मे, असगठित या पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे। उनमें से कुछ को ये अपना अधीन देश न कहकर राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार शासित ('मेंडेटेड')* या रक्षित प्रदेश आदि नामों से पुकारते थे। पर इससे उनकी हालत में खास फरक नहीं पड़ता।

अब राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यो ने सिद्धान्त रूप में तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आयी तो उन्हों ने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नहीं। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे

* पहले महायुद्ध के बाद जो रंगदार जातियो के देश विजेताओं को मिले, उन्हें आज़ादी के अयोग्य समझा गया, और तजरुबेकार और उन्नत राष्ट्रों की शागिर्दी में रखा गया। ये राष्ट्र उन देशों का शासन राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार करते थे, फिर भी उनका दमन और शोषण बहुत कुछ अपने अधीन देशों की तरह ही करते थे।

राज्य भी जिनका संघ के संगठन में खासा हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी अपनी फौज और हथियार बढ़ाने का चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण-सम्मेलनों का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक से अधिक सैनिक शक्ति रखना जरूरी और अनिवार्य समझा। उन्हों ने यह कहना शुरू कर दिया कि "जब तक रक्षा का पूरा इन्तजाम न हो, निशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।"

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है, जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। शस्त्रास्त्र तो एक उद्देश्य को पूरा करने के साधन हैं, वह उद्देश्य है स्वार्थसाधन, पूँजीवाद और साम्राज्य-पिपासा। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सब के भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रो के कम करने से या ज्यादह घातक शस्त्रों की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से शान्ति कायम करने का काम नहीं हो सकता। सब से बड़ी ज़रूरत है, जनता में शान्ति और प्रेम के भावों के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने की। श्री० चियांग काई शेक ने ठीक कहा है कि 'अगर आदमी अपनी बुद्धि और अपने चरित्र-बल को युद्ध को रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बन्दूक से लड़ाई लड़ने मे कोई खास फरक नहीं है।' जब तकआदमी अपनी युद्ध-मनोवृति पर अकुश न रखें, तब तक वे चाहे जिस हथियार से काम चला सकते हैं, और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूँसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिन्सक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि

प्राचीन काल में किया करते थे। अब आदमी के अधिक बुद्धिमान और वैज्ञानिक हो जाने से उसने जन-संहार के तरीकों में भी उन्नति कर ली है। बुद्धि और विज्ञान का यह दुरुपयोग ही है। ज़रूरत है कि आदमी इनके सदुपयोग की तरफ ध्यान दे, और इन्हे मानव समाज की सेवा और सहायता में लगावे, स्वार्थ साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का अन्त किया जाय, और हर देश को पूरी आर्थिक और राजनैतिक आजादी दी जावे।

सारांश यह कि राष्ट्र-संघ के द्वारा शान्ति कायम करने के सम्बन्ध में मानव जाति का जैसा हित होना चाहिए था, न हुआ। राष्ट्र-संघ की कमजोरियों ने दूसरे महायुद्ध का मौका पैदा कर दिया, जिसमें इस संस्था का ही अन्त हो गया। इस पर भी राष्ट्र-संघ सोचने के लिए अच्छी सामग्री छोड़ गया। अब जो संस्थाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेवारी लें, वे उसके जीवन और कार्यों से अच्छी शिक्षा ले सकती हैं। एक खास शिक्षा यह है कि कोई भी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रोग का इलाज नहीं कर सकती, जब तक सब राष्ट्र आपस में बराबरी और भाईचारे का परिचय न दें; और जनताओं में ऊंच-नीच गोरे काले, यूरोपीय, एशियाई, अफ्रीकी, अमरीकी आदि का भेद भाव दूर होकर प्रेम और सहानुभूति की भावना न जागे। सबराष्ट्रों को स्वार्थ और संकीर्णता छोड़ने मे देर लगेगी, पर यह बात नामुमकिन नहीं है, और हमें उस दिशा में आगे बढ़ते रहना चाहिये।

ग्यारहवाँ अध्याय

नयी व्यवस्था

यह बात पत्थर की लकीर है कि दुनिया के किसी हिस्से में भी तब तक शान्ति नहीं रहेगी, जब तक दुनिया के सभी हिस्सों में शान्ति की नींव मजबूत नहीं होती। —*विडेल विल्की*

शान्ति की बारबार कोशिशें होने पर भी अभी तक शान्ति कायम नहीं हुई। राजनीतिज्ञ और दूसरे विचारक जगह जगह यह सोच रहे हैं कि भविष्य के लिए कैसी व्यवस्था करनी चाहिए। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सब तरह की समस्याएँ हमारे सामने हैं, जिनके हल करने की ज़रूरत है। योजनाएँ बनाने वाले बहुत हैं, और नित्य नई योजनाएँ सामने आती रहती हैं। उन सब पर विचार करने की यहाँ गुँजायश नहीं है। कुछ खास खास बातों पर विचार करना हमारे लिए काफी होगा।

मोटे तौर पर दो तरह की योजनाएँ बनती हैं—(१) किसी एक ख़ास राष्ट्र के लिए, और (२) सारी दुनिया के लिए। इनमें से पहली तरह की योजना की मिसाल श्री० विलयम विवरेज की योजना है, जो इंगलैण्ड के लिए बनायी गई है। इसमें तीन मुख्य बातें हैं—(१) बच्चों के लिए अलाउंस, (२) सारी जनता के स्वास्थ्य की व्यवस्था, और (३) सब के लिए रोजगार का स्थायी इन्तजाम। इन तीन बातों में सब से प्रमुख तीसरी है। बात यह है कि इंगलैण्ड और दूसरे लड़ने वाले देशों में तरह तरह के नये उद्योग धन्धे शुरू हुए हैं, नये कारखाने खुले

हैं, नये सरकारी दफ्तर कायम हुए हैं। इन कामों से पहले की बेकारी बहुत कुछ दूर हो गयी है। अगर युद्ध के बाद शान्ति के समय मे भी लोगो का रोज़गार इसी तरह कायम रखा जा सके तो बेकारी का, और उससे पैदा होने वाला दूसरा संकट टाला जा सकता है। रोज़गार बनाये रखने का उपाय यही है कि युद्ध के बाद भी ये सब कारखाने चलते रहे और दूसरे नये उद्योग धन्धो का काम शुरू किया जाय। उस समय कारखानों से सामान बहुत कुछ दूसरी तरह का बनवाना होगा।

इस योजना को अमल में लाने के लिए धन की बहुत ज़रूरत होगी। यह रकम सामाजिक बीमे के रूप में सारे राष्ट्र से जमा की जायगी। हर आदमी को अपनी बेकारी और जीवन रक्षा के लिए बीमा कराना होगा। यह तो जाहिर ही है कि इस योजना से किसी बेकार को जो रकम मिलेगी वह उसकी सब ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकती, वह उसे ज़िन्दा भले ही रख सके। इसलिए इस बात की ज़रूरत है कि सरकार साफ साफ ऐलान कर दे कि जहां तक हो सकेगा वह हर आदमी को कोई न कोई रोज़गार दिलाने की पूरी कोशिश करेगी, चाहे हर आदमी के हर समय रोज़गार में लगे रहने की गारन्टी न भी कर सके। इस योजना का लक्ष्य यह है कि राष्ट्र की सारी आमदनी को सन्तोषजनक ढङ्ग से बाँटा जा सके, इस बात का ध्यान रखा जाय कि जीवन-निर्वाह के लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वे सब समय सब परिवारों को मिलती रहें, ऐश आराम की चीज़ो का विचार पीछे किया जाय। इस योजना का लाभ तभी है जब कि उत्पादक उद्योगों के द्वारा सारे राष्ट्र की कुल सम्पत्ति को बढ़ाया जाय, और सरकार तथा व्यवसाइयों का आपस में गहरा सहयोग हो।

इस तरह की योजनाएँ अमरीका आदि दूसरे औद्योगिक और पूंजीवादी देशो मे भी बनी है। इनके बनाने वालों को अपने-अपने देश के भविष्य की चिन्ता है। ये चाहते हैं कि अपनी-अपनी वर्तमान समृद्धि बनाये रखें, अपने यहाँ की जनता के रहन सहन का धरातल जहाँ तक हो सके ऊंचा रखें और युद्ध के बाद जितना भी माल इनके यहाँ बने वह दूसरों देशो मे बिकता रहे। इस तरह इन योजनाओं में दूसरे देशो के फायदे नुकसान का कोई विचार नहीं किया गया; ये राष्ट्रीय हैं, अन्तराष्ट्रीय नहीं। *

अब दूसरी तरह की योजनाओ के बारे मे विचार करें।

जुलाई १९४१ मे अमरीका के प्रेसीडेंट रूजवेल्ट और इङ्गलैण्ड के प्रधान मत्री चर्चिल ने एक ऐलान किया था, जो 'एटलांटिक चार्टर' के नाम से मशहूर है। इस चारटर मे महायुद्ध का उद्देश्य संसार की स्थायी शान्ति के लिए दुनिया भर मे लोकतंत्र शासन प्रणाली को फिर से कायम करना और रक्षा करना बतलाया गया था और कहा गया था—'हम हर देश के लोगो के इस अधिकार को मानते है कि वे ही अपने यहाँ की सरकार के स्वरूप का फैसला करें, और हम चाहते हैं कि जिन कौमों से उनका यह अधिकार और उनकी आजादी जबरदस्ती छीन ली गयी है, उन्हे ये वापिस मिलने का इन्तजाम

* भारतवर्ष में भी योजनाएँ बनी हैं, जिनका उद्देश्य जनता की आमदनी बढ़ाना और रहन सहन के दर्जे को ऊँचा करना बताया गया है; लेकिन इस देश के पराधीन रहने और यहाँ राष्ट्रीय सरकार कायम न होने तक ऐसी योजनाएँ कुछ महत्व नही रखतीं।

हो जाय।' ये शब्द कितने आकर्षक हैं! पर ये कितने कूटनीति से भरे हुए हैं! इनमें सब देशों को नहीं, केवल उन्हीं देशों को आज़ाद करने की बात कही गयी, हैं, जिन पर (दूसरे) महायुद्ध जर्मनी और जापान आदि ने अधिकार कर लिया है। इन देशों के दो हिस्से किये जा सकते हैं—पूर्वी और पच्छमी। पच्छमी देशों के निवासी गोरे लोग हैं, उन्हें तो आजाद कर ही दिया जायगा। सवाल है, पूर्वी देशों का—बर्मा, श्याम, इंडोचीन आदि का, और फिलीपाइन जैसे बहुत से टापुओं का। इन्हें फिर से लेने की बात तो कही जाती है, पर आजाद करने की नहीं। कौन जाने, ये प्रदेश कुछ समय के लिए शत्रु द्वारा ही आज़ाद किये जायँ!

'अटलांटिक चारटर' की दूसरी बात लीजिए। इस चारटर में यह नहीं बताया गया कि जिन देशों की आजादी इस महायुद्ध से पहले ही इङ्गलैंड ने छीन ली थी, और जो इस समय इङ्गलैंड ही के अधीन हैं, उनका भविष्य में क्या होगा। जब इस विषय की आलोचना की जाने लगी तो इंगलैण्ड के डिप्टी प्रधान मंत्री मेजर एटली ने यह कह कर लोगों को चुप किया कि "पार्लिमेंट के मजदूर दल के सदस्यों का सदा यह कहना रहा है कि जिस तरह की आज़ादी हम चाहते हैं, उसी तरह की आज़ादी का अधिकार सबको होना चाहिए; और चारटर की शर्तों को सब कौमों के लोगों के लिए—जिनमें एशिया और अफ्रीका के निवासी भी शामिल हैं—समान रूप से अमल में लाया जायगा।"

मेजर एटली के ये शब्द हवा में गूंज ही रहे थे कि श्री० चर्चिल ने पार्लिमेंट के सामने युद्ध की हालत बताते हुए साफ कह दिया कि इंगलैण्ड और अमरीका की सरकारों ने मिल

कर जो ऐलान किया है, वह भारत, बर्मा, और ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे देशो के लिए किसी भी रूप में लागू न होगा।

इस तरह श्री० चर्चिल ने, जहाँ तक भारत और बर्मा आदि का सम्बन्ध था, अटलांटिक चारटर की अन्त्येष्टि कर डाली। ज़ाहिर है कि आज कल के साम्राज्य-प्रेमी देश अपने साम्राज्य के अधीन देशों को आज़ाद होने का उस समय तक अवसर न देंगे, जब तक कि परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर न करदें। यह भावी सुव्यवस्था के मार्ग में सब से बड़ी रुकावट है।

प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने इस (दूसरे) महायुद्ध के बाद की विश्व-व्यवस्था का आधार चार तरह की आज़ादी मानी है—अभाव से आज़ादी (खाने-पीने की चीज़ों और रहने की आज़ादी) डर से आज़ादी, बोलने की आज़ादी और धार्मिक आज़ादी। इस में सीधे शब्दों में राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी की बात नहीं कही गयी। राजनीतिज्ञ लोग कूटनीति की और गोलमोल भाषा का उपयोग करते है, जिसके अर्थ का वे जब चाहे अनर्थ कर सकें। इसीलिए चार आज़ादियों के नये और मोहक शब्दों का जाल फैलाया गया है।

सन् १९४३ के अन्त में तेहरान मे अमरीका, इंगलैण्ड, और रूस के सूत्रधारों का एक सम्मेलन हुआ था। उसके बाद प्रेसीडेंट रूजवेल्ट, मि० चर्चिल, और मो० स्टेलिन की तरफ से ऐलान किया गया कि युद्ध के बाद ऐसी शान्ति कायम करने की बात सोची गयी है, जो संसार के सभी देशों को पसन्द आवेगी, इससे सब देशों के आदमी आज़ाद ज़िन्दगी बसर कर सकेंगे। यह ऐलान एटलांटिक चारटर से मिलता हुआ है, इसे मो० स्टेलिन ने भी समर्थन किया है। लेकिन एटलांटिक चारटर के अन्दर भारतवर्ष जैसे पूर्वी देशों को शामिल करने से

मि० चर्चिल ने इनकार कर दिया था, क्या तेहरान के ऐलान का भी यही मतलब लिया जायगा ? ज़ाहिर है कि यूरोपियन कौमों का संसार से मतलब अक्सर केवल यूरोप से ही होता है।

संसार में अव्यवस्था और अशान्ति का खास कारण यह है कि क़ौमो क़ौमो मे राजनैतिक और आर्थिक विषमता है, और हर ताकतवर क़ौम अधिक से अधिक ज़मीन पर अधिकार जमाना चाहती है। यदि बड़े और ताकतवर राष्ट्र भी अपने देश केबाहर किसी ज़मीन को अपने अधीन करना छोड़ दें, और जो देश इस समय उनके अधीन हैं, उन सब को आज़ाद कर दें, और, सब लोग अपने अपने देश मे अपनी इच्छानुसार आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था करने लगें तो अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का अन्त हो जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर देश के निवासी भोजन वस्त्र की आवश्यक सामग्री हासिल कर सकें। सब के रहने के लिए स्वास्थ्यप्रद घर हों, किसी को बीमारी के समय ठीक ठीक दवा और इलाज की कमी न रहे, सब बालक और बड़े यथा योग्य शिक्षा पा सकें। राष्ट्र के लिए अपना अपना या अपने समूह का स्वार्थ सिद्ध करने की भावना विनाशकारी है। सब का हित करने में ही सब का भला है।

विश्व-व्यवस्था के लिए ज़रूरी है कि आदमियो के और राज्य के आपसी व्यवहार मे सहयोग और सद्भावना हो। परिवारों में, गाँव और नगरो में, क़ौमों में और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब जगह शान्ति और प्रेम हो। इसके वास्ते विचार करने और अमल में लाने की कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं—

१—हम हर घड़ी यह अनुभव करें कि हम सब भाई भाई हैं; इसलिए वर्ण, रंग, जाति, धर्म आदि का भेदभाव मानना अनुचित है।

२—किसी आदमी को अपना दास या सेवक मानना अनुचित है; इसी तरह एक जाति या देश को किसी भी बहाने से अपने अधीन करना पाप या गुनाह है—अक्षम्य है।

३—हर आदमी और हर जाति को आज़ादी का हक़ है—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी तरह की।

४—हर आदमी और हर जाति का कर्तव्य है कि वह दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे वह चाहती है कि दूसरे उसके साथ करें।

दूसरा खंड

रास्ते की बाधाएँ

बारहवाँ अध्याय

यात्रा का अनुभव

पिछले खंड मे इस बात पर विचार किया गया है कि अब तक कितनी यात्रा तय हो चुकी है, किन किन मंज़िलों में से होकर हम कहाँ तक पहुँचे है। हमने देखा कि मनुष्य मे सामाजिक भावना का धीरे धीरे विकास हुआ। उसनेपरिवार बनाया। परिवारों का कबीला या जाति बनी। एक अधिक कबीलो या जातियो के आदमी टिक कर किसी गाँव या नगर मे बसे। नगर-राज्यों का निर्माण हुआ। नगर-राज्यों से बढ़ कर, या कई-कई नगर-राज्यों का मिल कर एक राष्ट्र-राज्य हुआ। राष्ट्र-राज्य ने दूसरे राज्यो के साथ मिल कर संघ-राज्यों का निर्माण किया। इस तरह समय समय पर कई तरह के संगठन हुए। इस समय दुनिया में मे बहुत से राष्ट्र-राज्य और संघ-राज्य, और कुछ इन राज्यो के अधीन, पराधीन देश हैं। कहीं कहीं पुराने ढंग के संगठन—कबीले या नगर-राज्य के भी नमूने मौजूद है। अलग अलग राज्यों में एक दूसरे से सम्बन्ध बढ़ता रहा है; अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है। फिर भी संसार में शान्ति नहीं है। नयी नयी

तजवीजें सोची जा रही हैं, लेकिन कलह और लड़ाई जगड़ा बना ही रहता है। जाहिर है कि आजकल की व्यवस्था संतोष-जनक नहीं है। मनुष्य की यात्रा अभी पूरी नहीं हुई; उसे और आगे बढ़ना, और बेहतर संगठन करना है।

अच्छा होगा कि अब ज़रा यह विचार कर लिया जाय कि इस समय तक की यात्रा मे क्या क्या अनुभव हुए। हमारे रास्ते मे कौन कौन सी बाधाएँ या रुकावटें आयीं। अगर हम इन बाधाओ को जानलें तो आगे यात्रा करने में अधिक सावधान रह सकते है। इससे हमारा काम कुछ आसान हो जायगा, और हमें जहाँ पहुँचना है, वहाँ जल्दी पहुँच जायँगे; क्योंकि आदमी मे यह योग्यता है कि वह अपनी पिछली भूलो से लाभ उठा सकता है, और आगे का कार्यक्रम परा करने के लिए ज्यादह तैयार हो सकता है।

हर यात्रा में बाधाएँ दो तरह की हुआ करती है—(१) आदमी की अपनी पैदा की हुई, और (२) प्रकृति की या दूसरों की पैदा की हुई। एक आदमी कहीं जा रहा है। रास्ते मे उसे कोई सुन्दर दृश्य या वस्तु दिखायी दी, या मनोहर संगीत सुनाई दिया, वह उसे देखने या सुनने में लग गया। कुछ देर बाद उसे अपनी यात्रा का ध्यान आया, तब वह आगे बढ़ा। कुछ दूर चलने पर फिर कोई ऐसी ही बात हो गयी। इस तरह यात्रा में अनावश्यक देर लग सकती है। या कल्पना करो, आदमी कुछ दूर खासी तेजी से चलता है, भूख, प्यास और थकान सहकर भी बढ़ा चला जाता है, पर एक खास हद तक जाने के बाद उसके मन में अहंकार आ जाता है कि मैंने यात्रा का बहुत सा भाग बहुत जल्दी तय कर लिया। मैंने बड़ा साहस और पुरुषार्थ किया है, अब मैं इतनी मेहनत क्यों करूँ। यह

सोच कर वह आराम करने लगता है, और उसका आराम पीछे आलस्य में बदल जाता है। इसी तरह किसी डर या लोभ के कारण भी आदमी का ध्यान अपनी यात्रा से हट कर दूसरी तरफ लग सकता है। ये सब ऐसी रुकावटों की मिसालें हैं; जो आदमी खुद पैदा करता है, और जिनके लिए वह खुद ही जिम्मेवार होता है।

दूसरी तरह की बाधाएँ ऐसी होती हैं कि रास्ते में कोई नदी पड़ती हो और उसमें बाढ़ आ जाय, या जंगली जानवर का सामना करना पड़ जाय। ये बाधाएँ अचानक आ सकती है, और इनके लिए, यात्रा करने वाले को दोष नहीं दिया जा सकता।

ये दोनों तरह की बाधाएँ हर मंजिल पर अलग अलग आयी हैं, और कुछ पुराने समय से चली आ रही हैं; कारण, यद्यपि आदमी ने बड़े बड़े संगठन बना लिये हैं, उसके पुराने संगठन भी थोड़े बहुत मौजूद हैं। इन बाधाओं के बारे में ब्यौरे-वार विचार अगले अध्यायों में किया जायगा। यहाँ एक खास व्यापक दोष की तरफ ध्यान दिलाना है। वह यह कि आदमी अकसर अपनी नजर दूर तक नहीं फैलाता, वह संकीर्ण विचार से काम लेता है। वह अपनी दुनिया बहुत छोटी मान लेता है, एक छोटे से दायरे के आदमियों को ही अपना समझता है, उनसे ही प्यार करता है, उनके लिए सब तरह के कष्ट सहता और त्याग करता है। इस दायरे से बाहर के आदमियों को वह पराया या गैर मान लेता है; उन्हें प्रेम करना, उनसे सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना तो दूर, उन्हें वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ लेता है। इसलिए उन्हे कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में वह संकोच नहीं करता। मिसाल के लिए मामूली

आदमी अपने सुख के लिए अपने परिवार के लोगों को दुख पहुँचाता है और उनसे सख्त काम लेता है। इतिहास में ऐसा अनेक स्थानों पर हुआ है, जब पिता ने पुत्र को, या पुरुष ने स्त्री को केवल मारा पीटा ही नहीं, उन्हें दूसरों के हाथ बेच कर अपने लिए धन हासिल किया। मनुष्य आगे बढ़ता है, अपने परिवार को तो अपना समझता है, पर दूसरे लोगों को कष्ट या धोखा देना उसे बुरा नहीं लगता। इसी तरह कुछ और प्रगति करके मनुष्य अपने कबीले, जाति, गाँव या नगर के आदमियों को एक हद तक अपना मानता है। वह धीरे धीरे राजभक्त या देश-प्रेमी, या राष्ट्र-सेवक कहलाने मे गर्व करता है। पर ये सब भी उसकी अपूर्णता के ही प्रमाण हैं।

आजकल के जमाने का आदमी अपने आप को बहुत उन्नत और विकसित मानता है। वह समझता है कि मैंने असभ्य अवस्था को पीछे छोड़ दिया है, पर अब भी ठंडे दिल से सोचने पर हमें अपनी कमी का अनुभव होता है। हम आगे बढ़ना चाहते हैं, पर कई बाधाएँ हमारे सामने हैं। प्रकृति ने संसार के अलग अलग हिस्सों के आदमियों को अलग अलग बोली बोलने वाला और जुदा जुदा रंग का बनाया; बस, मनुष्य उन सब की भीतर की एकता को भूल गया, वह उनमें अपने और पराये का भेद देखने लगा। इसके अलावा उसने कई और बाधाएँ अपने आप ही खड़ी करलीं। कहीं साम्प्रदायिकता की दीवार है, कहीं राष्ट्रीयता की; और, अब इस जमाने की नयी बाधा साम्राज्यवाद है। ये बाधाएँ ऐसी नहीं हैं जिनको दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो। पर जब वह इन्हें दूर करना चाहे तब न। इस समय तो दशा यह है आदमी में इन बाधाओं को दूर करने का पूरा

इरादा ही नहीं मालूम होता। वह तो जान बूझ कर इनकी रक्षा करने में लगा है। हमें अपने पुराने संगठन से बहुत मोह हो गया है। हम यह नहीं सोचते कि उनकी उपयोगिता अब है या नहीं, किस संस्था में कुछ सुधार करने की ज़रूरत है, और किसे बिल्कुल बदल देने की। हम उदार या व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए तैयार नहीं होते। हम भूल ज़ाते हैं कि हमें आगे बढ़ना है; नये विशाल संगठन के बिना हमारा काम नहीं चलेगा।

आदमी को कहाँ पहुँचना है, और वहाँ पहुँचने के लिए उसे क्या करना है, इन बातों का विचार करने से पहले हमें रास्ते की रुकावटों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिससे उनको हटाया जा सके। हमें यह विचार करना है कि मानव समाज के आजकल के संगठनों में किस तरह की नीति या व्यवहार रहे, जिससे छोटा बड़ा हर संगठन मनुष्य के सर्वोच्च और व्यापक संगठन यानी मनुष्य मात्र के हित का ध्यान रखे; हर समूह अपने से बड़े समूह से मेल रखे, अपने आपको उसके अधीन, उसका एक अंग समझे; हमारे पारिवारिक हित का राष्ट्रीय हित से, और राष्ट्रीय हित का मानव हित से, किसी भी हालत में विरोध न हो। जो संगठन अपने से बड़े संगठन का विरोधी हो, उसका अन्त कर दिया जाय; किसी भी संगठन के बने रहने की ज़रूरी शर्त यह हो कि वह पूर्ण मानव समाज की दृष्टि से भी उपयोगी और आवश्यक हो।

नेरहवाँ अध्याय

पारिवारिक मोह

केवल अपने ही बालक का विचार न करे। जब तक आप के पड़ोसी, आप के गाँव, आप के देश, और समस्त जनता के बालकों की स्थिति नहीं सुधरेगी, तब तक आप चाहे जितना परिश्रम करें, आपके बालक को सच्चा सुख, सच्ची सम्पत्ति और सच्चा जीवन नहीं मिलेगा। —*गिजूभाई*

पहले कहा जा चुका है कि आदमी के सामाजिक संगठन की सब से पहली कुदरती और आवश्यक सीढ़ी परिवार है। परिवार में बालकों का पालन पोषण होता है और उन्हें अगली पीढ़ी का भार उठाने के योग्य बनाया जाता है। यदि माता पिता अपनी संतान के साथ जैसा चाहिए स्नेह भाव न रखें, और उनके लिए तरह तरह का कष्ट न उठावें तो बालकों की परवरिश होना कठिन है। इसी तरह पति पत्नी का, भाई बहिन का, भाई भाई का, या बहिन बहिन का, एक दूसरे से प्रेम दोनों के लिए हितकर और ज़रूरी होता है। सब अपने निजी सुख का त्याग करके भी एक दूसरे को आराम पहुँचाने और उसका भला करने में हिस्सा लेते हैं। इस तरह सामाजिक जीवन में परिवार-प्रथा का उपयोग ज़ाहिर है। लेकिन हर चीज़ और हर बात की मर्यादा होती है। एक सीमा तक ही, कोई चीज़ उपयोगी होती है; उसके आगे, वह उपयोगी होने की जगह हानिकारक होने लगती है। तब यह कहा जाता है कि इसका दुरुपयोग हो रहा है। समझदार आदमी को चाहिए कि अति का सर्वत्र त्याग करे;

किसी बात के भी दुरुपयोग का मौका न आने दे।

परिवार-प्रथा के बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि बहुत से पुरुषो और स्त्रियो का अपनी संतान से इतना ज्यादह प्यार होता है कि वे उसके लिए विशाल मानव हित की अवहेलना करने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि समाज मे दूसरे भी लाखो बच्चे है, और उन के साथ भी प्रेम और न्याय का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह के माता पिता परिवार-प्रथा के दुरुपयोग के दोषी है। वे अपने छोटे छोटे परिवारो मे इतने रम जाते हैं कि उन्हें बड़े मानव समाज का ध्यान नहीं रहता, जैसे आँख के सामने एक पाई रख लेने से सूरज नज़र नहीं आता। अपने परिवार के साथ बहुत अधिक अनुराग होने से स्वार्थ, लोभ, और अनुदारता बढ़ती है। इसी से बड़े बड़े कल कारख़ानों के मालिक लाखों मज़दूरों का पेट काट कर करोड़ो रुपये कमाते हैं, और उसे अपने छोटे से परिवार के लिए शौक़ीनी और विलासिता में उड़ाते रहते हैं, और जो धन बचता है, उसे मरते समय अपने बाल बच्चो के नाम वसीयत कर जाते हैं। हिन्दुस्तान में जिन अमीरो के सन्तान नहीं होती, वे अकसर अपने खानदान के किसी बालक को गोद ले लेते हैं, जिससे उनका वंश चले। ये गोद आये हुए बालक मुफ़्त का धन पाकर प्रायः बिगड़ जाते हैं, और आरामतलबी या भोग विलास का जीवन बिताते हैं। बहुत सी औरतों के जब सन्तान नहीं होती तो वे जादू टोने का आश्रय लेती हैं, और दूसरों के बच्चो का अनिष्ट सोचने में भी कुछ संकोच नहीं करतीं। 'सौतेली माँ' ये शब्द ही निर्दयता के सूचक हो गये हैं। इस तरह संतान की कामना या परिवार की भावना ही पुरुषों और स्त्रियों के घोर पतन का कारण बन जाती है।

परिवार के मोह से आदमी अपने पड़ोसियों को लूटते और देश या राज्य को बरबाद करते है। इससे ईमानदारीका सार्वजनिक जीवन असम्भव हो जाता है। हर राजनीतिज्ञ, राष्ट्र को हानि पहुँचाकर भी, अपने परिवार को लाभ पहुँचाने की कोशिश करता है। चीन, ईरान और हिन्दुस्तान जैसे देशों मे सार्वजनिक भावना के बहुत कम होने का एक खास कारण यही नैतिक दोष है। क्या आश्चर्य है कि मशहूर समाजवादी नेता रोबर्ट ओवन ने घरो को स्वार्थ और छल का अड्डा बताया है। यही बात बड़े पैमाने पर लीजिए। रोम के सम्राट् मारकस औरिलियस ने अपने निकम्मे लड़के कोमोडस को अपना उत्तराधिकारी बनने में मदद दी। ओलिवर क्रामवेल की, अपने खानदान का राजनैतिक महत्व बढ़ाने की कोशिश ने इंगलैण्ड में लोकतंत्रवाद के पक्ष को नष्ट कर दिया।

इस जमाने मे विवाह और पारिवारिक जीवन ने बहुत से प्रगतिशील आन्दोलनों को उत्साही प्रचारकों और धुन के पक्के कार्यकर्ताओ से वंचित कर दिया है। विवाह से पहले बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ तरह तरह के आन्दोलनों और आदर्शों के साथ खूब जोश से काम करते हैं, लेकिन जब उनके प्रेम और सेवा के लिए उनका परिवार हो जाता है तो उनके उच्चतर कर्तव्यों की अवहेलना होने लगती है। फिर, उन्हें सभा सोसायटियो में जाना भी कठिन मालूम होने लगता है। विवाह ने ऐसे कितने ही देश-सेवकों का खात्मा कर डाला। हरवर्ट स्पेन्सर ने कहा था कि अगर मेरा विवाह हो जाता तो मैं 'सिंथेटिक फिलासफी' (समन्वयात्मक दर्शन) पर निबन्ध न लिख सकता। बहुत से वीर स्त्री पुरुष कैद से और आर्थिक हानि से ज्यादहतर इसलिए डरते हैं कि उन्हें अपने बाल बच्चों की बहुत फ़िक्र

रहती है। परिवार आदमी को ऐसे मौकों पर कायर बना देता है।

इसी दृष्टि से समय समय पर परिवार-प्रथा का घोर विरोध हुआ है। यूनान का दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) रक्षक वर्ग या सैनिक वर्ग के लिए परिवार-प्रथा को उठा देना चाहता था। अनेक बौद्ध और ईसाई साधु इसीलिये आजीवन अविवाहित या कुआँरे रहने लगे, जिससे वे परिवार में लिप्त न हों। ऐसी बातें थोड़े से लोगों में ही परिमित रहीं। आम तौर से परिवार-प्रथा बराबर चलती रही है। बात यह है कि पुरुष और स्त्री में मिलकर एक दूसरे के साथ रहने की इच्छा स्वाभाविक है। बालिग होने पर यह प्रवृत्ति एक बार सब में जागती है। अरस्तु (एरिस्टोटल) के शब्दों में 'प्रेम एक समय में एक ही वस्तु के साथ होता है।' प्रेम केवल विषय वासना की पूर्ति ही नहीं चाहता, वह गहरा व्यक्तिगत स्नेह भी चाहता है। हर आदमी और हर औरत की यह इच्छा होती है कि कोई व्यक्ति ऐसा हो, जिसे मैं खूब चाहूँ, और जो मुझे सब से अधिक चाहे। पति-पत्नि सम्बन्ध की जड़ मे यही भावना है। संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों, संतान को प्यार करते हैं, और उसे प्यार करने में दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग मालूम होता है।

यह पारिवारिक प्रेम जब मर्यादा से बाहर हो जाता है, जब यह मोह का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य अपने दूसरे कर्तव्यों की अवहेलना करने लगता है। इसलिए अब हम पारिवारिक मोह को रोकने के उपायों पर विचार करते हैं।*

(क) कुछ लोगो की राय है कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को प्यार करने और पालने के लिए दूसरो के बच्चे दिये जायँ, उनके

* Hints for Self-Culture के आधार पर।

अपने बच्चे न दिये जायँ। क्योंकि पुरुष और स्त्री दोनों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी न किसी बच्चे से निजी और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते हैं, इसलिए वे उस दूसरे के बच्चे से भी अवश्य प्यार करेंगे, परन्तु उनके प्रेम का सामाजिक-करण हो जायगा, वे उस बच्चे की खातिर न तो दूसरे बच्चों को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करेंगे, और न समाज या देश के साथ छल-कपट करेंगे। पुरुष और स्त्री दूसरे के बालक में अपनेपन की भावना इतनी ज्यादह नहीं रख सकते। और इस तरह यह तजवीज़ इस भावना को रोक रखने के लिए अवश्य उपयोगी है। लेकिन यह बनावटी और अस्वाभाविक है; यह इसका बड़ा दोष है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(ख) यह कहा जाता है कि बच्चों का पालन पोषण निजी तौर पर न हो, बल्कि सरकारी या राष्ट्रीय शिशु-शालाओं में, सीखे हुए कर्मचारियों की देख रेख में हो। किसी बालिग आदमी का किसी बच्चे से व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो और न कोई बालक किसी व्यक्ति विशेष को पिता या माता के रूप में माने। इस तजवीज में तर्क या गणित की सी सादगी का गुण है, लेकिन यह सचाई भुला दी गयी है कि मनुष्य का जीवन तर्क या गणित से कहीं ज्यादह पेचीदा है। अगर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों में एक दूसरे से अपनापन या व्यक्तिगत प्रेम न रहे, और सब मशीन के पुर्जों की तरह रहें तो सम्भव है कि वे किसी साधु संन्यासी की तरह परिवार के मोह से बचे रहें, लेकिन वे मनुष्य जाति के अच्छे नमूने नहीं हो सकते। हम चाहते है कि पुरुष और स्त्रियाँ पूरी तरह विकसित हों, और उनमें दिल और दिमाग दोनो के सब असली गुण मौजूद हों। जो बालिग आदमी किसी बालक को 'अपना' नहीं कह सकता, वह आम तौर

पर उदास, रूखा, और अपनी निजी चिन्ताओं में ही लीन रहेगा। और, जिस बालक को पालने वाले ऐसे आदमी (माता-पिता आदि) नहीं होते, जिनका उसके साथ खास अपनेपन का अनुराग हो, वह कभी ऐसा स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न नहीं होगा, जैसा उसे होना चाहिए। अनाथालयों में रहने वाले और घरों मे पलने वाले बालकों में साफ़ फरक होता है। इसलिये बालिगों के सुख, और बच्चो की ठीक ठीक वृद्धि दोनों दृष्टि से यह प्रणाली हानिकर है, इसे त्याग देना चाहिए।

(ग) अच्छा उपाय यह है कि मा बाप अपने अपने बच्चों का पालन पोषण तो करें लेकिन पारिवारिक मोह का नियंत्रण करना, उसे काबू मे रखना सीखें; उनका प्यार मर्यादा में रहे, वह मोह की सीमा तक न पहुँच जाय। हमें उन महान पुरुषों और स्त्रियों का विचार करना चाहिए जिन्होंने अपनी सन्तान के मोह के लिए देश या समाज की भलाई का त्याग नहीं किया। गौतम बुद्धने अपना अपना परिवार इसलिए छोड़ दिया ताकि वह आध्यात्मिक खोज में लग सके। बाद में उन्होने अपनी स्त्री और पुत्र को भी समझा बुझा कर इस बात के वास्ते तैयार कर लिया कि वे निर्धन रह कर मानव समाज की सेवा में अर्पण हो जायँ। सुकरात ने अपनी स्त्री और बच्चो के लिए सम्पत्ति नहीं चाही। उसने निर्धनता में जीवन बिताया और जरूरत पड़ने पर निर्धनता में ही मृत्यु का आलिंगन किया।

यूरोप में अनेक धर्मनिष्ट ईसाइयो ने अपने धर्म पर अटल रहने के लिए अपने पारिवारिक मोह का सर्वथा परित्याग कर दिखाया। भारतवर्ष आदि देशों का इतिहास भी ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है। स्थानाभाव से यहां यही उल्लेख किया जाता है कि समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने और उसकी

पत्नी जेनी ने अपनी जन्म भूमि से दूर लन्दन में बड़े संकटों का जीवन व्यतीत किया। उनके बच्चों को कई बार रोटी तक न मिली और भूखा रहना पड़ा। तो भी वीर दम्पति ने मानव समाज की भलाई के लिए पारिवारिक हितों को हँसते हँसते न्यौछावर कर दिया। उनके बच्चे भी बड़े होकर अपने मा बाप की तरह समाजवाद के प्रचार में लग गये। कैसा अनुकरणीय उदाहरण है! सारा परिवार एक ऐसे उच्च आदर्श से प्रेरित था, जिसने उसे मोह से सर्वथा मुक्त कर दिया था।*

बस, पारिवारिक मोह के दोषों से सावधान रहो। अपने साथियों और हितचिन्तकों की अवहेलना न करो, जो तुम्हे, परिवार बनाने से पहले, बहुत प्यारे थे। सामाजिक जीवन से केवल इसलिए अलग मत हो कि अब तुम अपने बाल बच्चों के साथ ज्यादह वक्त गुजारना चाहते हो। लोगों की भलाई के आन्दोलनों में धन और समय लगाने में कमी न करो। अगर कुटुम्ब से तुम्हारा प्रेम तुम्हें स्वार्थी और लोभी बनाता है तो वह अभिशाप है, वरदान नहीं। सच्चा प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है, ह्रास नहीं। उससे पुरुष और स्त्री दोनों को यह प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वे अपने शरीर और मन को देश और समाज की उन्नति में लगावें। अगर तुम प्रेम के स्वामी रहते हो तो वह आदर्श की तरफ तुम्हारी चढ़ाई को आसान कर देता है, लेकिन अगर तुम प्रेम के दास बन जाते हो तो वह तुम्हें पतन के गड्ढे में जा गिराता है।

सारांश यह कि परिवार-प्रथा के रहते हुए भी पारिवारिक मोह हटाया जा सकता है। यदि मनुष्य इसी भावना से

---

* कार्ल मार्क्स, सुकरात और गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों के बारे में विशेष इस ग्रन्थमाला की 'श्रद्धाजलि' पुस्तक में लिखा गया है।

परिवार में रहें तो उसे अपने बाल बच्चों का पालन पोषण करने से कोई हानि नहीं हो सकती। बच्चों को हमें अपनी निजी मिलकीयत नहीं समझना चाहिए। हमें यह मानना चाहिए कि वे मानव समाज के बच्चे हैं, जो देखभाल के लिए हमारे सुपुर्द किये गये है। हमें उनको इस बात का अभ्यास कराना चाहिए कि वे हमसे माता या पिता के रूप में बेजा मोह न करें; उनका प्रधान कर्तव्य मानव समाज के प्रति है, हमारे प्रति नहीं। हमे उनके लिए बहुत अधिक धन कमाने या जोड़ कर रखने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, और न उनके लिए स्कूल, कालिज, व्यापार या राजनीति में अनुचित रियायतें हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। हमें उनको उनकी योग्यता से अधिक ऊंचे या विशेष आमदनी वाले पदों पर नियुक्त करके या कराके समाजद्रोह या देशद्रोह का दोषी नहीं बनना चाहिए। उनके मस्तिष्क को क्षुद्र पारिवारिक विषयों में कैद नहीं करना चाहिए। हमें उनका ध्यान म्युनिसिपल, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों की ओर दिलाना चाहिए। हमें चाहिए कि हम उनमें लड़कपन में ही नागरिकता की भावना का विकास करें, जिससे बड़े होने पर वे अपने सामाजिक कर्तव्यों का ठीक ठीक पालन कर सकें। यदि हम ऐसा करें तो मानव जाति का हित साधन होगा, और हमारे बच्चों का भी भला होगा। यह काम कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असाध्य नहीं हैं। महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने ऐसा कर दिखाया है। वे समाज के बड़े हित के सामने परिवार के हित को गौण समझते हैं। हमें भी इसका अभ्यास करना चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

वर्ण-भेद और जाति-भेद

प्रकृति ने मनुष्यों को अलग अलग रंग देकर चक्कर में डाल दिया है। हम धोखे में आ जाते हैं। रंग के इस पर्दे को अलग करके हमें अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा न अनार्य, न यहूदी, न मंगोल, न हबशी। सब आदमी हैं, सब स्त्रिया हैं; सब की एक जाति है—मानव जाति।

—*हरदयाल*

दक्खिन अमरीका में ऐसे लोग मौजूद हैं जो 'निग्रो' लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करने के बजाय हिटलर को युद्ध में विजयी देखना ज्यादह पसन्द करेंगे। कुछ ऐसे अमरीकन भी हैं, जो एशिया के लोगों को बराबरी का दर्जा देने के बजाय ख़ुद युद्ध में हार जाना ज़्यादह अच्छा समझेंगे। ऐसे अंगरेज भी हैं, जो हिन्दुस्तानियों को आज़ादी देने की निस्बत हिटलर की विजय ज्यादह क़बूल करेंगे।

—*श्रीमती पर्ल बक*

संसार में तरह तरह के रंग रूप और शक्ल सूरत के आदमी पाये जाते हैं। कोई गोरा है, कोई गेहुँआ, कोई काला, कोई पीला, कोई ताम्बे के रंग का। किसी का चेहरा चौड़ा है, किसी का लम्बा। तरह तरह के रंगों और चेहरों को देख कर हम मनुष्य जाति की बुनियादी भीतरी एकता को भूल जाते हैं। मुड़ी हुई नाक और सुनहरी बालो वाला लम्बा गोरा काकेशियन छोटे क़द चपटे चेहरे और पीले रंग वाले जापानी से, या मोटे

होठ और काले रंग वाले हबशी से अलग मालूम होता है। आकृति, क़द, माथा, नाक, बाल, मुँह आदि के अनुसार आदमी अलग अलग जातियो के माने जाते हैं।

इन बाहरी भेदों में वर्ण या रंग का भेद आदमियों के मेल मिलाप में बहुत बड़ी बाधा खड़ी करता है। दुनिया की अधिकांश जनता इस रोग से बीमार है। सभ्यता का दम भरने वाली गौरांग जातियों ने तो काले और दूसरे रंग के लोगों का ऐसा ऐसा संहार किया है, कि उसका हाल पढ़कर दिल को गहरी चोट लगती है, और विचारशील आदमी को उस पर हमेशा लज्जा होगी। इसके सम्बन्ध मे आगे चल कर विचार किया जायगा। पहले हम हिन्दुस्तान की बात लेते हैं।

हिन्दुस्तान के हिन्दुओं में जो सामाजिक व्यवस्था प्रचलित है, वह वर्णाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। चार वर्ण या जाति यहाँ की मुख्य विशेषता रही है। कहा जाता है कि शुरू में यहां यह जातिभेद श्रम-विभाग की दृष्टि से बना था। श्रम-विभाग का मतलब लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग अलग पेशो में लगा देना होता है। यह काम कुछ आसान नहीं है, ख़ासकर एक बड़े और मिले जुले समाज में। आज एक आदमी की रुचि और योग्यता एक तरह का काम करने की है, कल संगति और शिक्षण आदि के प्रभाव से वह उस काम से अरुचि ज़ाहिर करके किसी दूसरे काम की तरफ़ झुक सकता है। सम्भव है इसी कठिनाई को अनुभव करके, और यह विचार करके कि मनुष्य में अपने पैत्रिक कार्य को ठीक-ठीक करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, लोगों में गुण कर्म के साथ साथ जन्म (वंश आदि) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हुई हो। धीरे धीरे इस ख्याल को इतना महत्व दिया जाने लगा कि इसके

आगे गुण कर्म की बात पीछे पड़ गई। कुछ जातियों के आदमी केवल जन्म या वंश के आधार पर उच्च समझे जाने की माँग करने लगे और अब उन्हें ऐसा कोई सुधार मान्य नहीं होता, जिस के फलस्वरूप उन का उच्चासन डाँवाडोल होने की सम्भावना हो, और दूसरे आदमी उनके प्रतिद्वन्दी बन सकें। समाज में उच्च पद, मान, प्रतिष्ठा उनके लिए हमेशा के वास्ते सुरक्षित हो गई है। इसके लिए उन्हें कुछ करने धरने की जरूरत नहीं रही। इसके खिलाफ़, दूसरी अनेक जातियाँ ऐसी भी हो गईं कि उनके आदमी लाख सिर पटका करें, उनका स्थान समाज में हमेशा नीचा ही रहेगा। वे किसी तरह ऊपर चढ़ने की कल्पना नहीं कर सकते। उन्हें अपनी मौजूदा दशा में ही संतोष करना होगा, सामाजिक सुधार के कार्य में आगे बढ़ने का रास्ता उनके लिए बिलकुल बन्द है; उनको जन्म से यह बात सिखायी जाने लगी, और धर्म-ग्रन्थों द्वारा भी उन्हें यही शिक्षा दी जाने लगी कि तुम जहाँ हो, वहाँ ही रहो, तुम्हारा कल्याण इसी में है, और तुम्हारे भाग्य में यही बदा है।

इस तरह भारतीय समाज में श्रम-विभाग के असली आधार गुण कर्म की उपेक्षा हो गई, और जाति-भेद जन्म या वंश परम्परा के कठोर बन्धन में बंध गया। इसके साथ साथ यह अनिष्ट हुआ कि समाज ने श्रम-विभाग को कुछ अंश में तो अपनाया, पर श्रम की महत्ता को बिल्कुल भुला दिया। पुरोहिताई, पंडागिरी, महन्तगिरी, महाजनी, लेनदेन, ज़मींदारी, सर्राफा, अध्यापकी आदि कुछ काम तो ऊंचे मान लिये गये, और दर्ज़ी, लुहार, नाई, धोबी, चमार मेहतर आदि के काम को नीच समझा गया। यह विचार नहीं रहा कि यदि समाज को इनके कामों की जरूरत है, और ये काम सामाजिक व्यवस्था के

लिए उपयोगी है, तो फिर इन्हे नीच क्यों माना जाय। प्राचीन काल में जब हर आदमी आम तौर पर अपने कपड़े ख़ुद सी लेता था और धो लेता था तो जब ख़ास ज़रूरत होने पर उसके इन कामों को कोई दूसरा आदमी कर देता तो वह उसका अहसान मानता था। पर आजकल की परिपाटी में जब कि एक आदमी को दर्ज़ी या धोबी मान लिया गया है, और उसके लिये प्रायः दूसरा कोई काम रहा नहीं है, तो हमें उसके प्रति कृतज्ञ होने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई। हमें यक़ीन है कि वह आदमी झक मार कर यह काम करेगा, और जब कि हम बाज़ार दर से उसकी मज़दूरी दे देते है तो हम उसके ऋण से सदा उऋण ही रहते हैं। यही बात मेहतर चमार आदि के लिये है।

इस जाति-भेद के समर्थन में यह कहा जाता है कि इससे समाज का काम निर्विघ्न चल रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार भी तो करना चाहिए कि हमें इसके लिए कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। एक तरफ तो उच्च जातियों के आदमी अपने गुण और योग्यता बढ़ाने के लिये कोई प्रेरणा नहीं पाते, उन्हें मुफ्त में ही ऊंचा बनने का विश्वास रहता है, उनमें अहङ्कार दम्भ आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है और बराबरी, हमदर्दी, भाईचारा, निष्पक्षता और स्वतन्त्र चिन्तन आदि सद्गुणों का उनमे अभाव हो जाता है, दूसरे इस परिपाटी में समाज का ख़ासा हिस्सा सदा दलित और पीड़ित रहता है। वह अपने आपको नीच समझता है दूसरे भी उसे नीच समझते और कहते हैं। इन लोगों के भावों और विचारों का विकास हो ही कैसे सकता है? ये चरम भाग्यवादी, सन्तोषवादी, अनुत्साही और उन्नति-विमुख रहते हैं। जो समाज ऐसे दो ऊंच और नीच भागों में

बँटा हो, उसके उद्धार की आशा क्या हो सकती है ? ऐसी सामाजिक व्यवस्था असहनीय है, चाहे उसे किन्हीं शास्त्रों का समर्थन प्राप्त हो।

जात-पाँत की इस प्रथा ने एक तरफ़ तो कुछ आदमियों को दान-पुण्य की आमदनी पर गुलछर्रे उड़ाने वाला बना दिया है, दूसरी तरफ लाखों नहीं, करोड़ों आदमियों को जन्म जमान्तर के लिए बहुत नीचे दर्जे की मज़दूरी करने के लिए मजबूर कर रखा है। यह विषमता समाज का पतन करती है। यूनान और रोम में गुलामों की बहुतायत थी, और वहाँ के कितने ही दार्शनिक यह मानते थे कि समाज में गुलामों का होना ज़रूरी है। यह ग़लत विश्वास ही यूनान और रोम की सभ्यताओं का अन्त करने वाला साबित हुआ। खेद है कि हिन्दू समाज ने उससे शिक्षा न ली।

हिन्दुओं की 'वर्ण व्यवस्था' ने कई करोड़ आदमियों का सामाजिक पद बेहद गिरा रखा है, हमारे कितने ही भाई अस्पृश्य या अछूत माने जाते हैं। कुत्ते बिल्ली आदि पशुओं से भी गये बीते ! देश की कितनी शक्ति बेकार जा रही है, भारतवर्ष के विदेशी शासक इस परिस्थिति से कितना लाभ उठाते हैं और यह देश दूसरे देशों में कितना निन्दा और उपहास का पात्र बना हुआ है ! यह प्रथा मनुष्य में ऊँच नीच का भेद भाव पैदा करती है, उनके विकास में बाधा डालती है, मनुष्य को अपने भाई मनुष्य की दृष्टि में अछूत या अस्पृश्य ठहराती है, और मानव समाज का विशाल संगठन नहीं होने देती।

पिछले वर्षों में अनेक महापुरुषों ने भारतीय समाज को जात-पाँत के इस रोग से मुक्त करने का उद्योग किया है। इस विषय पर यहाँ विस्तारसे लिखने की ज़रूरत नहीं; इसका विवेचन

इस ग्रन्थमाला की 'भारतीय जागृति' पुस्तक में किया गया है। इस समय यहाँ और संस्थाओं के साथ जात-पाँत तोड़क मंडल भी इस दिशा में बहुत प्रयत्न कर रहा है। धन्य हैं वे सज्जन जो अपना समय और शक्ति इस महान कार्य में लगा रहे हैं, जिनका आदर्श है कि समाज से विषमता और कटुता दूर होकर सब मनुष्यो की एक जाति हो, गुण कर्मों के अनुसार हर आदमी को आगे बढ़ने का अवसर मिले, क्षुद्र रूढ़ियाँ या परम्पराएँ अब हमारी प्रगति को रोकने वाली न रहे। समाज की स्थिति में ऐसा परिवर्तन या सुधार करना कुछ सरल काम नहीं है। इसके लिए व्याख्यान देना या लेख लिखना काफी नहीं है। सुधारको को स्वय उदाहरण बनने को आवश्यकता है।

अब हिन्दुस्तान की बात छोड़कर हम दूसरे देशो के वर्ण-भेद का विषय लेते हैं। आदमी अपने लोभवश अनेक कुकर्म कर जाता है, परन्तु वर्ण भेद या काले गोरे का सहारा मिल जाने पर लोग कहाँ तक नीचता पर उतर आ सकते हैं, इसका सबूत गौरांग जातियों के उस व्यवहार से मिलता है, जो उन्होंने अपने उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की धुन में रंगदार जातियों के प्रति किया है। कई रगदार जातियों को उनके दुर्व्यवहार और अत्याचार के कारण न केवल अपने रीति रिवाज, रहन सहन, सभ्यता और संस्कृति से हाथ धोना पड़ा, और अपनी आज़ादी से ही वंचित होना पड़ा, बल्कि अपने प्राणों की बलि चढ़ा कर पृथ्वी से अपना नामोनिशान तक मिटा लेना पड़ा। यह सारा इतिहास अमानुषिक अत्याचारों की एक लम्बी कहानी है, जिसे सुनाने के लिये बड़े बड़े स्वतन्त्र ग्रन्थों की आवश्यकता है। पाठक मानव समाज के इस घातक रोग से होने वाली भयङ्कर हानि का कुछ अन्दाजा लगा सकें, और खुद अपने को इस रोग से

बचाते हुये दूसरों की भी इससे रक्षा करने के लिए प्रेरित हों, इस हेतु यहाँ इसका कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

दक्खिन अमरीका मे एजटेक, मय और इन्का सभ्यताएँ ईसवी सन् के पहले बहुत उन्नत रह चुकी है। कहा जाता है कि ये सभ्यताएँ भारत और चीन से चलकर प्रशान्त महासागर को पार करके वहाँ पहुँची थी। एजटेक सभ्यता ने मध्य अमरीका मे आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इसकी वास्तुकला के सुन्दर नमूने, पत्थर के वे कैलैन्डर हैं, जो वर्ष के भिन्न-भिन्न भाग प्रदर्शित करते थे। संगीत विद्या में भी यह जाति कम उन्नत नहीं थी। लोहे, सोने, चाँदी आदि धातुओं के गहने और औज़ार बनाने में भी ये बहुत दक्ष थे। कपड़े आदि बुनने और ख़ासकर समूर (फ़र) को कपड़े के तौर पर काम में लाने में भी वे बहुत कुशल थे। इस जाति को यूरोप के लालची लोगों के अनुसंधान के कारण लोप होना पड़ा। मय सभ्यता भी, कई यूरोपीय विद्वानों के मत से, मानव संस्कृति की सर्वोच्चता की प्रतीक थी। उसकी कला के नमूने अत्यन्त सुन्दर थे। राजनीति, अर्थनीति, और ज्योतिष में उसका ज्ञान किसी समय बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसने पत्थर के बने मकानों के बड़े बड़े शहर बसाये थे, जो जो देखने योग्य थे। यह सब वर्णन ईसा की पाँचवीं सदी का है।

इन्का सभ्यता की सर्वोत्तम शासन प्रणाली, आने जाने और व्यापार के सुगम साधन, सिंचाई के लिए नहरें, अच्छी-अच्छी सड़कें, कृषि की उत्तमोत्तम व्यवस्थाएँ, निर्माण कला और दस्तकारी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इसकी भाषा और समाज की सुरक्षा के क़ानून बहुत अच्छे थे। स्पेन की हुकूमत ने इस सभ्यता को मिटा दिया गया। स्पेन के सभ्य कहलाने वालो ने दक्खिन अमरीका में मीता-प्रथा प्रचलित की, जिसके अनुसार यहाँ के

लोगों को ज़बरदस्ती दूसरों के लिए काम करना पड़ता था। इसके फल-स्वरूप कई जातियाँ समूल नष्ट हो गईं। उन्हें इतनी नारकीय यातनाएँ दी जाती थीं कि इनमें से कई जातियों ने आपसी समझौते करके एक दूसरे को मार डाला, और छोटे छोटे बच्चों को मा-बाप ने अपने मरने के पहले अपने हाथ से मार दिया। कई जगह इन अभागों ने यह शपथ लेली कि वे अब सन्तान पैदा न करेंगे। इस तरह एक के बाद दूसरी जाति मरती गई और अपनी मातृभूमि को इन 'सभ्यों' के हवाले करती गई। दक्खिन अमरीका में इस समय कई छोटे बड़े स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। ब्राज़ील, चाइल, पेरू, पनामा, पेरेगुए इत्यादि ऐसे देश हैं, जिनमें गोरी जातियों के कुछ हज़ार लोग ही सारे देशो पर अपना क़ब्ज़ा जमाये हुए हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव में होने के कारण ये दूसरी जातियों को वहाँ बसने नहीं देते।

संयुक्त राज्य अमरीका स्वतन्त्रता का पुजारी मशहूर है; क्या वह वर्ण विद्वेष की इस बुरी भावना से बचा? वहाँ की सरकार ने अमरीका के असली पुराने बाशिन्दों को नष्ट करने के लिए 'कैपिटेशन ग्रांट' नाम की प्रथा जारी की थी, जिसके अनुसार पुराने बाशिन्दों की खोपड़ी इकट्ठा करने वालों को अमरीका की सरकार की तरफ से इनाम मिलता था। इस प्रोत्साहन के कारण गौरांग पार्टियों द्वारा उन लोगों का ख़ूब शिकार किया गया। वहाँ के ईसाई पादरियों ने इस 'धर्म कृत्य' (!) को परलोक प्राप्ति का एक साधन बतला कर आशीर्वाद दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकांश मार डाले गये, कुछ काम लायक़ बना लिये गये, और, कुछ दूसरे देशों में ले जाकर बेच दिये गये।*

* श्री० कालूराम कानूनगो एम० ए० के 'वीणा' में प्रकाशित लेख से।

आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड मे भी वहाँ के मूल निवासियों का भाग्य कुछ कम खराब नहीं रहा। जब से अंगरेज़ वहाँ पहुँचे, तभी से इन उपनिवेशो की नीति रंगीन जातियों के साथ सौतेले भाई की सी रही। 'देश केवल गोरे लोगों के लिए', या 'रंगदार आदमियो का प्रवेश निषेध' इनका आदर्श वाक्य रहा। आस्ट्रेलिया अपने क्षेत्रफल में भारतवर्ष से भी बड़ा है, और इसकी कुल आबादी करीब सत्तर लाख है। इसमे वहाँ के मूल निवासियो की संख्या अब केवल पछत्तर हज़ार रह गई है। ये लोग मैदानो को छोड़ कर घने जगलो मे चले गये है। पिछली दो सदियो मे इन अभागो का पशुओ की तरह शिकार हुआ है।

दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी हबशी है। उनकी सुरक्षा की आड़ में वहाँ की सरकार बाहर के रंगदार आदमियों के वहाँ आने पर रोक लगाती है। हबशियो के बहुसख्यक होने पर भी उन्हे वहाँ के शासन मे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वे गुलामी के लिए ही रह गए हैं।

गौरांग जातियो के उपनिवेशो मे से कुछ मे रंगदार मूल निवासियो पर क्या बीती, यह सक्षेप में ऊपर दिखाया गया है। और भी उपनिवेश हैं, टापू भी अनेक हैं। कहाँ कहाँ की चर्चा की जाय। सब जगह की यही दुख भरी कहानी है। उसके पढने में भी हृदय पर चोट लगती है। गोरे वर्ण का हो या पीले, गेहुँए, भूरे या काले रंग का हो, मनुष्य के पतन की कथा दुखदायी हुए बिना रहती। उसका उल्लेख करना अरुचिकर है। इसीलिये गई गुजरी बातों को छोड़ दिया जाता है। फिर भी यह तो बताना ही होगा कि अब भी सभ्यताभिमानियों का रवैया कुछ सुधरा नहीं है।

यूरोप और अमरीका के कई देशो के नाचघर, जलपान घर

होटल, सिनेमा और नाटक घरो मे और कई दूसरे तमाशों मे रंगदार आदमियो को इसलिए जगह नहीं दी जाती कि उनके मेनेजर जानते है कि वैसा करने से उनके गोरी जातियों के गाहक बुरा मानेंगे। काला आदमी चाहे जितना शिक्षित हो, वह चाहे उसी ईसाई सम्प्रदाय का हो, और उसी राज्य का नागरिक हो, बहुत से अमरीकन उसे 'अस्पृश्य' मानते है। गोरो का यह आग्रह रहता है कि काले आदमियों का हमारे स्कूल, गिरजा और क्लब आदि से बहिष्कार रहे, यहाँ तक कि उनके मरने पर उन्हे हमारे क़ब्रिस्तान में जगह न दी जाय।

इस वर्ण-भेद के मर्मभेदी उदाहरण के लिये उत्तरी अमरीका में वहाँ के मूल निवासी 'रेड इंडियनो' या 'निग्रो' लोगों की दशा पर विचार करना होगा। वास्तव में ये ही पहले उस भूमि के स्वामी थे। वहाँ यूरोपवालो की बस्तियाँ (उपनिवेश) बस जाने पर इन्हें यूरोपवालों की अधीनता या दासता में रहना पड़ा। इन्होंने जहाँ तक बन पड़ा गोरों के रीति रिवाज और बेशभूषा को अपनाया। अनेक बाधाएँ होने पर भी इन्होंने गोरे लोगों की भाषा सीखी और उसी में शिक्षा हासिल करने की चेष्टा की। संगीत में तो उन्होने बहुत ही उन्नति कर दिखाई। यह सब होते हुये भी वे गौरांग लोगोकी सहानुभूति और प्रेम के पात्र न बन सके। समता और स्वाधीनता का दम भरते हुये भी वहाँ की सरकार ने इनके साथ न्याय न किया। बहुत साधारण और अप्रामाणित अपराधो पर इन्हे कठोर से कठोर दण्ड दिये गये। वर्तमान महायुद्ध से पहले तक इन्हे क्रूर दंड दिये गये हैं। गोरो द्वारा इनका 'लिंचिंग' होना सभ्यता के लिए एक बहुत बड़ा कलंक है। छोटी छोटी बातो पर इन्हे आग से जला कर मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है। यदि वहाँ की सरकार से कोई इस

विषय में कुछ कहता है, तो उसके पास उसका टकसाली जवाब मौजूद है—'यह हमारा घरू मामला है ; दूसरों को इसमें दखल देने का कोई अधिकार नहीं।'

दक्खिन अफ्रीका की रंग-भेद की नीति तो मशहूर है ही। एशिया वालो से अपने यहां के अँगूठे के निशान लगवाना, पोल टेक्स अर्थात् प्रति व्यक्ति कर, गिरमिटिया प्रथा, रंगीन लोगों की अलग बस्तियों आदि की बातें सब जानते हैं। इस समय भी वहाँ हिन्दुस्तानियों का रहना स्वीकार नहीं किया जाता। यूनियन पार्लिमेंट की तो बात ही क्या, इस समय वहाँ प्रवासी भारतीयों को प्रान्तीय कौसिलों और नगर-कौंसिलों (म्युनिसिपेलटियो) तक में मेम्बरी का हक हासिल नहीं है और, उनको किसी लगनी बीमारी की तरह यूरोपियन बस्तियो से अलग रखा जाता है। हिन्दुस्तानियों को धीरे धीरे नागरिक अधिकार देने, और शुरू में केवल म्युनिसिपेलटियों में उनके प्रतिनिधि लिये जाने की बात भी यूनियन सरकार को मंजूर नहीं है।

इन पक्तियो को लिखते समय एक समाचार हमारे सामने है, उसका शीर्षक है—'पहला हिन्दुस्तानी शिकार'। समाचार में कहा गया है कि दक्खिन अफ्रीका की यूनियन सरकार ने 'पेगिंग एक्ट' पास करके गोरे लोगो की बस्ती में हिन्दुस्तानियो के न बस सकने का जो अपमानपूर्ण क़ानून बनाया था, उसके अनुसार गत २६ नवम्बर १९४३ को श्री० पाथर नामक पहले हिन्दुस्तानी की पाँच पौंड (लगभग सत्तर रुपये) का जुर्माना या सात दिन की कैद की सजा दी गई, क्योंकि उसने मूर रोड नामक गोरे मोहल्ले के एक मकान में रहने का साहस किया था! यह बात ऐसे समय की है जब कि महायुद्ध के रूप में मौत हम सब के सिर पर नाच रही है, और संसार में शान्ति और समता

क़ायम करने के लिये नई नई योजनाएँ बन रही हैं।

लाला हरदयाल ने वर्ण-भेद दूर करने के लिए व्यंग्य पूर्वक एक रासायनिक उपाय बतलाया है—'वैज्ञानिकों को एक ऐसे रोगन का आविष्कार करना चाहिए, जो दुनिया भर के पुरुषों और स्त्रियो के शरीर के रग के लिए अच्छा समझा जाय। रंग की गहराई कम ज्यादह हो तो हर्ज नही, मुख्य बात यह है कि रंग एक ही हो। एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति कोई एक रंग पसन्द कर ले। गोरा, काला, मटियाला, भूरा, गेहुँआ, खाकी, पीला, बसन्ती आदि। हर नवजात शिशु इस निर्धारित रोगन से रंग दिया जाया करे, और, पीछे उसके जीवन-काल में समय समय पर इसकी पुनरावृत्ति होती रहे। रोगन का रंग वही रहे कोई दूसरा न हो इससे वर्ण-भेद की समस्या हमेशा के लिए हल हो जायगी।' लाला हरदयाल की इस चुटकी में मानव जाति के लिए बड़ा दर्द छिपा हुआ है। क्या हम अब भी ऐसी मूर्खता की बातें सोचते रहेगे कि गोरे रंगवाले अदमी सब से श्रेष्ठ होते हैं, भूरे रंगवाले उनसे कम श्रेष्ठ, और काले रंगवाले सब से नीचे दर्जे के।

हम अपने आपको बहुत बुद्धिमान और विचारवान कहते हैं। लेकिन जब हम रूप रंग आदि के फरक को देखते हैं तो हम भूल जाते है कि सब आदमियों में एक सोचनेवाला मस्तष्क और प्रेम करने वाला हृदय होता है। अमरीका में गोरे बालक अपने साथ हबशी बालकों के काले रंग से अरुचि प्रकट नही करते, वे उनके साथ खूब हिलमिल कर रहते और खेलते हैं। इस तरह बालक हमें बुद्धिमानी सिखाते है। पुरुष और स्त्री का प्रेम जाति या रंग से परे होता है। वह क़ानून के बन्धनों या सीमाओं को स्वीकार नही करता। मध्य अमरीका में गोरे और

काले के मेल से भूरे रंग की सुन्दर सन्तानें हुई है। हमें भाई-चारे का खूब प्रचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, हमे संस्कृति के उन अनेक तत्वो का विचार करने का अभ्यास करना चाहिए जो सब जातियो मे समान रूप से मौजूद हैं। बालको को घर पर तथा बाहर उदार शिक्षा मिलनी चाहिए। प्रेम और सहयोग के भावो की वृद्धि करने वाले साहित्य का प्रचार होना चाहिए। तभी हम उन विकारों से बच सकते हैं, जो शकल सूरत के भेद से हमारे मन में पैदा हो जाते है। वर्ण-भेद का रोग पुराना है, पर असाध्य नहीं है। मानव जाति के सुन्दर भविष्य मे विश्वास रखते हुये उसकी धैर्य पूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। सफलता निश्चित है।

—०—

पन्द्रहवाँ अध्याय

भाषा-भेद

—:०:—

'आपने मुझे भाषा सिखाई और मुझे फायदा यह हुआ कि मै दूसरों को कोसना सीख गया।' —*शेक्सपीयर*

'जापानियों ने अपने देश की भलाई को सामने रख कर अपनी छोटी बड़ी रियासतों, अपनी देहाती बोलियों और अपनी बहुत सी परम्परागत रूढियों, रस्म रिवाजों को त्याग कर एक भाषा और एक क़ौम का निर्माण कर दिखाया। और एक हम हैं, जो अपने देश मे बहुत सी भाषाओं के होते हुए भी सन्तुष्ट नही हैं, उनकी तादाद घटाने के बदले बढ़ाने पर तुले हुए है, बना बनाया काम बिगाड़ने और बसी-बसायी बस्ती उजाड़ने पर उतारू हैं।'

—*भवानीदयाल संन्यासी*

भाषा या ज़बान मनुष्यो को मिलाने का बहुत अच्छा ज़रिया है। एक ज़बान बोलने वाले आदमी एक दूसरे का दु ख सुख जान लेते हैं; धीरे धीरे उनमे एक दूसरे की सहायता और एक दूसरे से हमदर्दी के भाव बढ़ते जाते हैं, बातचीत से उनमे विचारो का तबादला होता है, और इससे विचारों में एकता आती है। उनका एक दूसरे से सम्बन्ध ज़्यादह गहरा होता जाता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि भाषा की अलहदगी से जनता की नाइत्तफाकी ज़ाहिर होती है। मानव जाति अलग अलग टुकड़ो में बट रही है और उनमे भेद भाव, एक दूसरे से नफरत और कलह बनी हुई है।

यह स्वाभाविक ही है कि उन अनजान अजनबी या अपरिचित लोगो से हम भाईचारा क़ायम न कर सकें, या न करना चाहे, जिनकी भाषा हम नहीं समझ सकते, और जिनके साथ हम बातचीत नहीं कर सकते। सहयोग या मेल मिलाप की ज़रूरी शर्त यह है कि आदमी एक दूसरे की बात समझें। शुरू की हालत में बोलियाँ या उपभाषाएँ अनगिनत होती हैं। इसलिये लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध छोटे छोटे दायरों में महदूद या परिमित रहता है। धीरे-धीरे एक बोली विकसित होकर राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान बन जाती है, और राष्ट्र-भाषा ही के अधार पर जनता का राष्ट्र-राज्य नाम से राजनैतिक संगठन हो जाता है। फिर भी एक राष्ट्र के सब हिस्सो मे एक ही भाषा नहीं बोली जाती, अलग-अलग हिस्सों में बोलचाल की अलग अलग भाषाएँ बनी रहती हैं, जिनमें दूरी के हिसाब से फरक़ बढ़ता जाता है। जिन देशों में शिक्षा का प्रचार ठीक ठीक नहीं हुआ है, और आने जाने के ज़रियों आदि की कमी के कारण दूर दूर

के लोगो का एक दूसरे से मिलना कम होता है, वहां थोड़ी थोड़ी दूर पर ही इन उपभाषाओ या बोलियो मे काफी फरक होता है, इसलिए क़ुदरती तौर पर वहां उपभाषाओ या बोलियो की तादाद उन्नत या ज़िन्दा राष्ट्रो की निस्बत कहीं ज्यादा होती है। हां, लोगो की सामाजिक, राजनैतिक और तिजारती ज़रूरतो के कारण उन उपभाषाओ मे से, जो राष्ट्र-भाषा की जगह लेने के क़ाबिल होती है, वही शिक्षा और साहित्य की भाषा बनायी जाने के योग्य समझी जाती है। राष्ट्र-भाषा मे उपभाषाओं के शब्द और मुहावरे (लोकोक्तियां) शामिल होते रहते है; यही नहीं, उसमे ज़रूरत और मेल मिलाप के साथ साथ विदेशी शब्दो और कभी कभी विदेशी वाक्य रचना की शैलियो को भी अपनाने का काम चलता रहता है। जितना जितना इस राष्ट्र-भाषा का प्रचार बढ़ता जाता है, उतना उतना ही राष्ट्र के सब लोगो का एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। राष्ट्र-भाषाओ का मनुष्य-जाति के विकास में एक ख़ास स्थान है।

पहले यह हालत रह चुकी है कि दस बीस मील के अन्दर के आदमी ही एक दूसरे से बातचीत कर सकते थे, वे ही आपस मे सम्बन्ध रखते थे। उस दायरे से बाहर वालो से बातचीत करना उनके लिए सम्भव न था, इशारो की मदद से, जैसे तैसे वे बाहर के आदमियो को अपना मतलब बता पाते थे, और उनका मतलब समझने की कोशिश करते थे। इस तरह हर दस बीस मील के अन्दर के आदमियो की एक अलग दुनिया थी। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि आज कल जिसे हम एक देश, या एक राष्ट्र, या एक क़ौम कहते है; वह पहले कितने सौ या कितने हज़ार टुकड़ों में बंटा हुआ रहा होगा, और हमारी यह धरती तो और भी ज्यादह हिस्सो में बंटी हुई होगी।

परन्तु जीवन गतिशील है, वह बदलता रहता है। वह एकसा अर्थात् एक ही हालत मे नही रहता, उसमे परिवर्तन होता रहता है। धीरे धीरे लोगो को यह मालूम होने लगा कि बिलकुल एकांगी जीवन व्यतीत करने मे बहुत कठिनाइयाँ है। सामाजिक या तिजारती और दूसरी ज़रूरतो से एक हिस्से के लोगो का दूसरे हिस्से के रहने वालों से मेल मिलाप बढ़ता गया। उन्होंने एक मिली हुई भाषा की ज़रूरत और उसके फ़ायदो को अनुभव किया। कुछ लोगो ने इन मिली हुई भाषाओ के बनाने मे अमली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने ही उसमे साथ दिया। हाँ, कुछ को यह काम नापसन्द भी हुआ, उन्होने इसका अपने अपने ढंग से विरोध किया। परन्तु परिवर्तन-चक्र चलता रहा, इनक़लाब का पहिया नहीं रुका, मिली जुली या विकसित भाषाओ का प्रादुर्भाव होकर रहा, और जो लोग इनसे कुछ बचना चाहते थे, उन्हे भी जल्दी या देर मे इनका उपयोग करना पड़ा। मिली जुली भाषाओ ने जुदा जुदा भू-भागो को मिलाया। यह क्रिया जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम दुनिया भर में आजकल की राष्ट्र-भाषाओ और राष्ट्र-राज्यो तक पहुँचे है।

अपनी प्रगति की इस मंज़िल पर खड़े होकर हम सोचते है कि हम कहाँ से कहाँ आगये। हमने बहुत यात्रा तय कर ली है, हमारे रास्ते में समय-समय पर रुकावटे आई। फिर भी हम निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे हैं। हम उस जगह को दूर छोड़ आये हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे। परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि हमे कहाँ पहुँचना है, तो अभी भी दिल्ली दूर ही नज़र आती है। राष्ट्र-भाषाओ का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ। फिर राष्ट्र भाषाओं ने हमें जो राष्ट्रीयता दी है, वह भी आजकल की दुनिया में कई दृष्टियों से एक बन्धन ही मालूम हो रही है। यह

एक दूसरा ही विषय है। जो हो, राष्ट्र-भाषा हमारी राष्ट्रीय जरूरतो को पूरा करने के काम आती है। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के सहारे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय काम पूरे होते हैं; अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए कायम होती हैं। इसी क्रम या सिलसिले से यह उम्मीद की जाती है कि एक दिन विश्व-भाषा का विकास होकर वह विश्व-राज्य के कायम करने मे सहायक होगी।

परन्तु अभी इस समय क्या हालत है। पुराने जमाने की हजारो भाषाएँ लोप होकर दुनिया भर मे साहित्यिक भाषाएँ कुल चार पाँच दर्जन ही है। फिर भी हर राष्ट्र और हर देश मे कई कई उपभाषाएँ मौजूद है। और, एक उपभाषा बोलने वालो के लिए दूसरी उपभाषा समझना कठिन होता है। मिसाल के लिए ब्रिटिश द्वीप की बात लें, जो क्षेत्र फल मे पञ्जाब से भी कम है, और जहाँ आने जाने के साधनो की तरक्की काफी होने से लोगों का आपस में मिलना जुलना भारतवासियो के आपस के सम्बन्ध के मुकाबले मे बहुत ज्यादह है। वहाँ इंगलैन्ड, वेल्ज़, स्काटलैन्ड और आयर्लैन्ड मे अँगरेज़ी के कई भेद या रूप मिलते हैं, जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक को बोलचाल के काम मे लाने वाले दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ पाते। खुद इंगलैण्ड की ही अलग अलग काउंटियो (ज़िलो) मे बोली जाने वाली अगरेज़ी भाषा के उच्चारण मे, शब्दों में और वाक्य-रचना मे काफी फरक है। परन्तु अगरेज़ी की इन उपभाषाओ मे से हरेक मे स्वतन्त्र साहित्य पैदा करने को वहाँ के विद्वान प्रोत्साहन नहीं देते। शिक्षा और साहित्य-रचना के लिए एक सामान्य अंगरेज़ी भाषा का इस्तेमाल करके ही सब अपना काम चलाते हैं। वे यह समझते हैं कि यदि हरेक उपभाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा माना जायगा, तो

जनता की मानसिक उन्नति, दिमाग़ी तरक्की या प्रगति मे रुकावट होगी, और आज दिन अंग्रेज़ी भाषा को साहित्य की दृष्टि से जो एक ख़ास जगह मिली हुई है, वह भी न रहेगी। इसलिये उन्हे अपने अपने यहाँ की अलग अलग उपभाषाओ का मोह सीमित और रोक कर रखना पड़ता है। सार्वजनिक उत्थान या सबकी तरक्की और भलाई के लिए मनुष्यो या समूहो को अपनी अपनी बात या भावना कुछ अश तक छोड़ देने से ही मनोरथ सिद्ध होता है।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये अब हम भारतवर्ष की हालत पर विचार करें। यहाँ हिन्दी (उर्दू या हिन्दुस्तानी) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तैलगू, कन्नड़, और मलयलम भाषाएँ मुख्य हैं। इनमें शिक्षा और साहित्य का काम हो रहा है। इनमे से हरेक की बहुत सी उपभाषाएँ हैं, जो एक दूसरे से काफी अलग हैं। ऊपर की भाषाओं में से हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अपनी उपभाषाओं और बोलियों को मिलाकर भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की भाषा है, जिसे वे रात दिन बोलते हैं। तीन चौथाई से ज़्यादह भारतवासी अपना काम चलाने योग्य हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। कुछ साल पहले मदरास और आसाम आदि के आदमी हिन्दी नहीं समझ सकते थे, पर अब कोशिश करने से वहाँ भी समझने लग गये हैं। इस तरह यह भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान होने के ज़्यादह क़ाबिल हो गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के कई भेद या इसकी छोटी छोटी बहुत सी उपभाषाएँ थोड़ी थोड़ी दूर पर मौजूद हैं। हमारा हित और भला इसमें है कि इन्हें अनावश्यक महत्व न

दिया जाय। सारी मनुष्य जाति की प्रगति और उसके भले का विचार करते हुए हमे भारतवर्ष में हिन्दी और ऊपर लिखी मुख्य मुख्य भाषाओ को ही शिक्षा और साहित्य की भाषाएँ मानना चाहिये। हाँ, इनकी जो उपभाषाएँ है, भाषा-विज्ञान या समाज-शास्त्र प्रेमी सज्जन उनका अध्ययन करते रहे। उनका जो कुछ साहित्य —गीत, गाथाएँ, कहावतें, मुहावरे, शब्द आदि मिल सकते है, उनका सग्रह करके उसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए, जिससे उसका उपयोग होसके परन्तु इन उपभाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने या उनमे अब उच्च कोटि का साहित्य रचने का आयोजन नही होना चाहिए। ऐसा करना विकास के सारे क्रम को उलट देना होगा।

खेद है कि यह बात हमारे कुछ अच्छे अच्छे विद्वानों की भी समझ मे जल्दी नही आती। वे 'जनपदो की भाषा' और 'जनपदो के साहित्य' का नारा बुलन्द करते है। वे कहते है कि हिन्दी तो इन जनपदो की केवल राष्ट्र-भाषा है, मातृ-भाषा नहीं, और इसलिये हिन्दी से हमारा सम्बन्ध केवल राष्ट्र की जरूरतो के नाते से ही रहे, प्रारम्भिक शिक्षा आदि का काम जनपद की भाषा से लिया जाय। ऐसी बातो की ओर भावुक और भोली जनता बहुत जल्दी आकर्षित हो जाती है। कुछ नेतृत्व या ख्याति के इच्छुक लोगों को नया धन्धा मिल जाता है और वे इस कार्य में सहयोग देने लगते है। परन्तु इससे देश की कितनी शक्ति बँट जाती है, और उस शक्ति का कितना अपव्यय होता है! क्या यह उचित है? हमे अभी कितनी साहित्यिक प्रगति करनी बाक़ी है, विश्व-साहित्य में कितना और क्या हिस्सा लेना है, विश्व-भाषाओं में अपनी भाषा को कैसा स्थान पाने के योग्य बनाना है, इन सब प्रश्नों पर हमें गम्भीरता के साथ विचार

करने की ज़रूरत है।

ऊपर हमने भारतवर्ष को सामने रख कर जो बात कही है, वह सभी देशो के सम्बन्ध में विचारणीय है। हमे समझ लेना चाहिए कि छोटे छोटे देशो मे भी समय समय पर अनेक भाषाओ का प्रादुर्भाव हुआ। अपने समय मे उन्होंने जनता का खूब काम चलाया, उनकी उस समय की उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। पर कालचक्र चलता रहता है। वे सब भाषाएँ आज दिन तक जीवित नहीं रह सकी और यदि उन्हे जीवित रखने की कोशिश की जाय, तो उसके लिए मानव विकास की रुकावट के रूप मे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी पुरानी आदत, अभ्यास रस्म-रिवाज, रूढ़ि और परम्परा की याद बनाये रखना चाहता है. परन्तु यह बात एक खास हद तक ही उपयोगी होती है। कभी कभी ऐसा देखने में आया है कि बालक एक कपड़ा पहने हुए है, वह मैला हो गया है, शायद फट भी गया है। मा चाहती है कि उस कपड़े को उतार कर बालक को नया वस्त्र पहना दिया जाय। परन्तु बालक अपना कपड़ा उतारना पसन्द नहीं करता, उसे इसमे कष्ट या झंझट मालूम होता है, वह अपना कपड़ा उतारे जाने का विरोध करता है। और, मा को बालक की इच्छा के विरुद्ध अपना काम करना पड़ता है। माता का स्नेह और बालक का हित दोनो इसी में है। बालक उस समय अपने भले बुरे का विचार करने योग्य नहीं होता। इसलिए वह माता के काम मे अरुचि और अप्रसन्नता प्रकट करता है। हाँ, कुछ देर बाद नया कपड़ा पहन चुकने पर, बालक को भी यह अनुभव होने लगता है कि अच्छा हुआ, मा ने मुझे नया वस्त्र पहना दिया, अब इस कपड़े में मैं पहले से अच्छा दिखाई देता हूँ। अगर बालक में

कुछ सोचने की शक्ति हो, तो उसे अवश्य ही इस बात पर खेद हो कि उसने पुराना कपड़ा उतारने का इतना विरोध क्यों किया था।

भाषा सम्बन्धी नीति मे आजकल हम प्रायः बाल-मनोवृत्ति का परिचय दिया करते हैं। प्रकृति माता चाहती है कि हम अधिकाधिक विकसित भाषा का उपयोग करके अपने विकास और प्रगति मे सहायक हो, परन्तु हम अपनी कम विकसित उपभाषा या बोली से ही चिपटे रहना चाहते है। हमारा उसके प्रति मोह होता है। हम उसे शिक्षा और साहित्य की भाषा बना कर सृष्टि क्रम के विरुद्ध भी उसे अमर बनाने के उत्सुक रहते है। ससार मे मानव जाति के काम मे आने वाले साधनो का निरंतर विकास और रूपान्तर होता रहा है, और होता रहेगा। हम अपनी अनुदारता, सकीर्णता, तंग दिली या मोह वश इस गति को रोकने की कितनी ही कोशिश करें, हम उसमे पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकते। घड़ी की सुइयो को आगे बढ़ने से रोक रखना हमारे वश की बात नही है। दुनिया मे अनेक उप-भाषाएँ या बोलियां लुप्त हो कर अपनी जगह किसी एक भाषा को देती रहती हैं, उन्हे कृत्रिम या बनावटी साधनों से बल प्रदान करना और जीवित रखना मानव विकास-क्रम के विरुद्ध है।

उपभाषाओ की बात छोड़ कर अब हम संसार की बड़ी बड़ी मुख्य मुख्य भाषाओ का विचार करें, तो प्रायः यह बात देखने मे आती है कि हर एक भाषा अपने पास की दूसरी भाषा से थोड़ी बहुत मिलती है। इन भाषाओ मे यह तय करना कठिन हो जाता है कि कहां एक समाप्त होती है और दूसरी शुरू होती है। जो ज़िले दो प्रान्तों के बीच में सरहद पर होते है,

उनकी भाषा प्राय. दोनों प्रान्तो की भाषाओं के मिले जुले रूप मे होती है। उनमे दोनो भाषाओ के शब्द. कहावतें और मुहावरे मिले होते है। इसके अलावा आनेजाने और मेल जोल के बढने के साथ साथ दूसरी भाषाओ के शब्द और मुहावरे भी हर भाषा मे आते रहना लाज़मी है। इस तरह संसार की विविध भाषाओ मे लेन देन का व्यवहार जारी रहता है। कुछ हम दूसरो से लेते है, और कुछ दूसरे हम से लेते हैं। यह लेन देन की क्रिया अधिकतर हमारे बिना जाने ही होती रहती है। कोई आदमी यह अभिमान नहीं कर सकता कि मैं बिल्कुल स्वावलम्बी हूँ, मुझे किसी से कोईचीज़ लेने की ज़रूरत नहीं है। इसी तरह कोई भाषा भी बिलकुल पूरी होने का दावा नहीं कर सकती। यदि वह अपने चारों तरफ व्याकरण के नियमो आदि की ऐसी दीवार खड़ी करेगी कि उसमे किसी तरह का परिवर्तन न हो, और उसमे नये शब्दो और मुहावरो आदि को स्थान न मिल सके, तो वह भाषा ऐसे प्राणी की तरह होगी, जिसका ताज़ी हवा न मिलने के कारण दम घुटता है, और जिसकी अन्त मे मुर्दों में शामिल होने की सम्भावना होती है। जो पानी बहता नहीं रहता, वह सड़ जाता है, और, जो भाषा सुधार, सशोधन, बढ़ने या फैलने से बचती है, वह थोड़े ही समय मे मृत-भाषा बनने की तैयारी करती है।

खेद है कि अनेक सज्जन इस साधारण नियम की अवहेलना करते हैं। वे भाषा के विषय मे कट्टर साम्प्रदायिकता का परिचय दिया करते है। उन्हे हर दम यह खटका लगा रहता है कि हमारी भाषा में दूसरी भाषाओ के संसर्ग से कुछ दोष न आजाय। वे छाँट छाँट कर ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करते है जिन्हे वे ठेठ उसी भाषा का समझते हैं। दूसरे शब्दो का वे पूरा पूरा

बहिष्कार करने के पक्ष में होते हैं। इस तरह कुछ हिन्दी-भक्त ऐसी भाषा लिखते पढ़ते है, जिसमे सस्कृत के तो कठिन से कठिन शब्द आ जायँ पर उर्दू फारसी आदि दूसरी भाषाओ का शब्द ढूढ़े भी न मिले। इसी तरह उर्दू के कुछ प्रेमी अपनी भाषा मे अरबी फारसी के तो मुश्किल से मुश्किल शब्द काम मे ले आवेंगे, पर ऐसा कोई शब्द इस्तेमाल करना पसन्द न करेंगे जो मूल मे संस्कृत का रहा हो। इन दोनो कट्टर गिरोहो की नीति का ही यह फल है कि हिन्दी और उर्दू जो पहले एक ही भाषा के दो नाम थे, अब एक दूसरे से ज्यादह से ज्यादह दूर होती जा रही है। हम हिन्दी वाले अपनी ताकत इस बात में लगा रहे है कि हमारी भाषा किस तरह उर्दू से बिलकुल अलग दिखाई दे। हम क़दम क़दम पर कोष और व्याकरण की कसौटी से काम लेते हैं। हम भूल जाते है कि कोष और व्याकरण को भाषा का सहायक होना चाहिए न कि उसका जेलर। यदि वे समय-समय पर परिस्थिति और ज़रूरत के अनुसार बदलते नहीं है, तो वे भाषा के विकास और उसकी तरक्की और बढ़ौती को रोकने वाले बन जाते हैं।

हमारा यह मतलब नहीं कि आदमी ख्वाहमख्वाह भाषा मे नये नये दूसरी भाषाओ के शब्दों आदि का प्रयोग किया करे, चाहे वे सुनने और पढ़ने वालो की समझ मे आवें या न आवें। कई कई भाषाओ को ज़बरदस्ती मिलाकर खिचड़ी भाषा का व्यवहार करना बेजा और हानिकर है। हमारा मतलब सिर्फ यह है कि जिस शब्द या शैली या मुहाविरे को जनता-जनार्दन ने अपना लिया है, उसकी शुद्धि अशुद्धि को परखना साहित्यकार के लिए ग़ैरज़रूरी और अनधिकार चेष्टा है। हमे उनसे परहेज करने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। जहाँ तक बन आवे, हमे

अपनी ज़बान को आमफहम यानी सरल और सुबोध रखने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह ज्यादह से ज्यादह जनता के काम मे आ सके, और देश मे आपसी मेल का ही कारण बने, फूट का नही। हर भाषा के शुभचिन्तको को चाहिए कि वे अपने व्यवहार से भाषा के बढ़ने या विकास को रोकने के दोषी न बनें। उनका फर्ज़ है कि अपनी ताकत को व्यर्थ के वाद-विवाद मे न लगा कर अच्छी रचनाओ द्वारा भाषा का भंडार भरें. उन रचनाओ के लिए वे तन मन से ख़ूब मेहनत करें। उनकी साहित्य-सेवा का लक्ष्य सचमुच साहित्य की सेवा हो, यही उनकी ज़िन्दगी का व्रत और मकसद हो।

सच यह है कि अच्छे साहित्य को बनाने के लिए लेखक को ख़ुद अपना जीवन निर्माण करना होगा, अच्छे गुणोका अभ्यास करना और अच्छे विचारो को अमल मे लाना होगा। ऊँचे चरित्र के विना पूरे प्रभावशाली या बाअसर साहित्य की रचना रचना नहीं होती। पर चरित्र-निर्माण एक अलग ही विषय है। इस पर विचार किसी दूसरे मौके पर किया जायगा।

यहाँ कहने की मुख्य बात यह है कि हमे इस भाषा-भेद को धीरे धीरे हटाते रहना चाहिए, जिससे ज्यादह से ज्यादह आदमियो मे बातचीत और विचार-विनिमय करने और एक दूसरे से मिलने जुलने का रास्ता साफ हो; एक सूबे के आदमी दूसरे सूबे वालो के, और एक देश के आदमी दूसरे देश वालो के. नजदीक आ सकें। इस भाषा-भेद के कारण जो बड़ी बड़ी दीवारें मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ो मे बाँट रही है, उन्हें गिराने में, और विश्व-भाषाके लिए रास्ता साफ करनेमे सहायक होना हर विचारशील प्रगतिवादी आदमी का परम कर्तव्य है।

—०—

सोलहवाँ अध्याय

साम्प्रदायिकता

सम्प्रदायवाद ने हर सम्प्रदाय की छोटी से छोटी रूढियों, रिवाजों, पूजा के तरीकों आदि को जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं, अमर और एक मात्र सत्य या कल्याण का एक मात्र उपाय साबित करने और बनाये रखने की कोशिश की है। यदि इन आधारों को न हिलाया गया, उनमें बुद्धि और तर्क से छान बीन करके दूध का दूध और पानी का पानी अलग अलग न किया गया तो विविध सम्प्रदायों के वे आपसी झगडे और मतभेद जो इस समय संसार की उन्नति मे कंटकों का काम दे रहे हैं, कभी दूर नहीं हो सकते। —*रघुवीरशरण दिवाकर*

मानव समाज के संगठन के बढ़ने और ज्यादह व्यापक होने में एक बड़ी रुकावट साम्प्रदायिकता या धार्मिक भेद-भाव है। असल में 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। इसका अर्थ कर्तव्य या फ़र्ज़ है। इसी तरह 'मज़हब' का अर्थ रास्ता है। धर्म के आधार पर बने हुए सब संगठनों का आपस मे मेल होना चाहिए, लेकिन व्यवहार में इसका उलटा है। आम तौर पर धर्म का मतलब अलग अलग मतमतान्तर या सम्प्रदाय लिया जाता है। ये मत मतान्तर समाज-संगठन मे किस तरह बाधक होते हैं, इसका विचार करने के लिए हम पहले यह सोचें कि मनुष्य में धर्म की भावना क्यों होती है, और उससे क्या लाभ होता है।

मनुष्य का ज्ञान बराबर बढ़ता रहा है, फिर भी दुनिया की

बहुत सी चीज़ें और घटनाएँ आदमी के लिए अभी तक रहस्यमय ही हैं। उनमें आदमी की अक्ल काम नहीं करती। आदमी चाहे या न चाहे, वह यह सोचने को मजबूर होता है कि उसकी पहुँच से परे कोई न कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो दुनिया में समय समय पर तरह तरह के परिवर्तन करती रहती है, जो सब जानदार और बेजान चीज़ो पर शासन करती है; अन्त मे सब जानदारो का जीना, मरना, सुख दुख, हानि लाभ आदि उसी के अधीन हैं। आदमी इस अदृष्ट शक्ति को जान नहीं पाता, पर वह इसके अस्तित्व से इनकार भी नहीं कर सकता। इस महान, सर्वोपरि और सर्व नियंता शक्ति के सामने उसका अहंकार नष्ट हो जाता है, और वह श्रद्धा और विनय के साथ अपना सिर झुका देता है।

मनुष्यों ने उस शक्ति के अलग अलग नाम रखे हैं, कोई उसे परमात्मा कहता है, कोई खुदा, और कोई 'गाड'। अपनी बुद्धि के अनुसार कोई उसे निराकार मानता है; कोई साकार। साकार मानने वाले तरह तरह क देवी देवता, अवतार, पीर आदि की पूजा करते हैं। लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर या देवी देवताओं की आराधना से उनकी सुख शान्ति बढ़ेग, अनिष्ट का निवारण होगा; और इस जीवन के बाद, मरने पर परलोक में भी उनका कल्याण होगा। यही भावनाएँ तरह तरह के धर्मो को जन्म देती हैं। संसार के अलग अलग हिस्सों में समय समय पर अनेक धर्म हुए है। उनमें से कुछ का रूपान्तर होगया है, और कुछ लोप हो गये। फिर भी इस समय कई धर्म और उनकी शाखाएँ मौजूद हैं। यदि हम जापान से शुरू करके पच्छिम को चलें तो हमें नीचे लिखे मुख्य मुख्य धर्म मिलते हैं—(१) शिन्तो धर्म जिसका जन्म

जापान मे हुआ; (२) ताओधर्म और (३) कनफ्यूसियस धर्म, चीन में; (४) वैदिक धर्म, जिसे अब हिन्दू धर्म कहते हैं; (५) बौद्ध धर्म, (६) जैन धर्म और (७) सिक्ख धर्म, भारतवर्ष में; (८) ज़रदुश्ती धर्म या पारसी धर्म, ईरान मे; (९) यहूदी धर्म और (१०) ईसाई धर्म फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन) मे; और (११) इसलाम धर्म अरब मे। इनमे से वैदिक धर्म और शिन्तो धर्म को छोड़ कर और सब धर्मएक न एक महापुरुष (अवतार या पैगम्बर आदि) द्वारा चलाए हुए है।

हर एक धर्म ने कुछ खास खास आदर्शों या सिद्धान्तो पर विशेष जोर दिया है। कारण यह है कि हर धर्म का उदय एक खास देश काल मे हुआ और उस परिस्थिति मे वहां के लोगो की कुछ खास जरूरतें थीं। श्री० कन्हैयालाल जी राजदान ने एक लेख में लिखा है कि 'हर धर्म का रग अलग अलग है। आत्मा सब मे एक ही है, पर शरीर का रूप रंग जुदा जुदा है, जिस से लाभ ही है न कि हानि। इन रगो में से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे आगामी विश्व-धर्म मे से निकाल फेंका जा सके। हिन्दुस्तान से हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता और मनुष्य जाति की एकता लेनी होगी; पारस से पवित्रता का शिक्षा; मिश्र से विज्ञान, जो धर्म का एक अग है, न कि किसी तरह उसके विरुद्ध है; यूनान से सौंदर्य; रोम से नियम-पालन; यहूदी धर्म से भलाई; और ईसाई धर्म से आत्म त्याग।' ये सभी गुण समाज के लिए जरूरी हैं। इसलिए सब धर्मों ने अपने अपने समय और क्षेत्र में समाज का उपकार किया है। इस समय भी जो लोग किसी एक धर्म के या उसकी किसी एक शाखा या उपधर्म के अनुयायी होते हैं, वे आपस में एकता अनुभव करते हैं, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम रखते हैं।

लेकिन धीरे धीरे मनुष्य की अनुदारता और नासमझी द्वारा हर धर्म मे विकार आगये। ये धर्म रूढियो और अंध-विश्वासो के भंडार बन गये। इनसे प्रेम की जगह परस्पर कलह और द्वेष का प्रचार होने लगा। यहाँ तक कि धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियो का समर्थन हुआ, और ऐसे ऐसे अत्याचार हुए जिन्हे पढ़ सुन कर हृदय काँप उठता है। न जाने कितने करोड़ पुरुषो, स्त्रियो और बालको को धर्म के नाम पर मौत के घाट उतारा गया, या अंगहीन और घायल किया गया। लोगो की गाढ़ी मेहनत से कमाई हुई कितनी सम्पत्ति धर्म की खातिर नष्ट की गयी है, इसका कोई हिसाब नही है।

जो हो चुका, वह हो चुका; किन्तु अभी तक भी हालत ठीक ठीक सुधरी नहीं है। एक धर्म के कट्टर भक्त दूसरे धर्म वालों को अपने में मिलाने के लिये क्या क्या ज़ोर जुल्म नहीं करते! वे दूसरो का सिर फोड़ने, और कही कहीं खुद शहीद बनने के लिए तैयार रहते हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयो, शियाओं और सुन्नियो, मुसलमानो और ईसाइयो, हिन्दुओं और मुसलमानों, मुसलमानों और यहूदियो के और दूसरे सम्प्रदायो के आपसी झगड़ो ने कई देशो को कलह का घर बना रखा है।

ऐसा क्यो होता है? बात यह है कि यद्यपि सभी धर्मों के मूल तत्व प्रायः एक से हैं, सभी सचाई, दया प्रेम आदि पर ज़ोर देते हैं, पर हर धर्म ने लोगो के रहन सहन के सम्बन्ध मे जो रीति, नियम या पद्धतियाँ तय कर रखी हैं, वे अलग अलग हैं। अलग अलग धर्मों का जन्म अलग अलग देश काल मे होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आदमी अपने व्यवहार मे धर्म के मूल तत्वों को बहुत कुछ भुला देता है, और बाहरी तथा गौण बातो में फँसा रहता है, जैसे पूजा किस

तरह करनी चाहिए, कैसे स्थान मे करनी चाहिए, खाने में कौन कौन सी चीजें निषिद्ध माननी चाहिए, किसके हाथ का खाना चाहिए, विवाह आदि किस तरह करना चाहिए, बालक के जन्म के समय क्या क्या रीति रस्म बरतनी चाहिए. मृतक संस्कार किस तरह होना चाहिए; यात्रा, व्यापार, विवाह-शादी, लड़ाई, या मुकदमा आदि कोइ काम शुरू करने के लिए कैसा समय (मुहूर्त) अच्छा होता है, किन किन बातो से अच्छा शकुन माना जाता है, और किन से अपशकुन, इत्यादि। ये बातें लोगो की व्यक्तिगत श्रद्धा पर, और अधिकतर अज्ञान और अधश्रद्धा पर निर्भर होती है।

इन बाहरी बातो में, धर्मो धर्मो मे भिन्नता है। इसके अलावा हर धर्म के अनुयायी अपनी इस तरह की बातो को तर्क संगत और वैज्ञानिक, और दूसरे धर्म वाले की इसी तरह की बातों को अज्ञानता और असभ्यता सूचक समझते हैं। ये दूसरों से भी अपनी ही बातो का अनुकरण कराना चाहते है। यही सब झगड़े की जड़ है।

शुरू जमाने में जब लोग छोटे छोटे समूहों मे रहते थे, एक समूह के आदमियो का अपना एक देवता था, वे सब एक ही तरह की पूजा पाठ करते और रीति रस्म मानते थे। इससे उन लोगों में प्रेम और एकता बढ़ती थी। अब हम उस शुरू के जीवन को बहुत पीछे छोड़ आये हैं। करीब करीब हर देश मे अलग अलग धर्मो के मानने वाले और जुदा जुदा रीतिरस्मो का पालन करने वाले रहते है। ऐसी दशा मे यदि एक सम्प्रदाय के आदमी दूसरे सम्प्रदाय वालो से प्रेम, सहानुभूति और सह-योग का भाव न रखें, सब अपने अपने ही स्वार्थ सिद्ध करने में लगे रहें और उसके लिए दूसरो को कष्ट देने

में संकोच न करें तो परस्पर कलह और संघर्ष होना लाजमी है। यदि किसी धर्म या सम्प्रदाय वाले बाढ़, महामारी, अकाल आदि के मौके पर ऐसी संस्था बनाएँ, जो केवल उनके ही सम्प्रदाय वालों का विचार करे, और दूसरो की परवाह न करे तो यह किसी तरह धर्म नहीं है, और न किसी धर्म या सम्प्रदाय को शोभा देता है।

हमे इस तरह की सब सकीर्णताओ और क्षुद्रताओं से जल्दी से जल्दी अपना पिंड छुड़ाना चाहिए। हर धर्म में से अपने और पराये का भेद भाव दूर करना चाहिए। यह कैसे हो? ज़रूरत यह है कि हर धर्म के कुछ उदार हृदय लोग इस बात के लिए कमर कसें, वे अपने व्यवहार से और प्रचार से अपने सहधर्मियो का दृष्टिकोण व्यापक बनाएँ। वह उन्हे समझायें कि सेवा या सहायता करते समय अपने पराये का विचार न कर केवल यह सोचना चाहिए कि पीड़ित या मोहताजो में किसे सहायता की ज्यादह ज़रूरत है या हमें किस की मदद करने की सुविधा अधिक है। यदि दस आदमी नदी में डूब रहे हैं तो उन्हे बचाते समय हम यह देखने न बैठें कि छाँट,छाँट कर पहले हिन्दू-हिन्दुओं को बचाया जाय, उसके बाद मुसलमानों या ईसाइयों को। जो भी हमारे हाथ से बच सके, उसे बचाने की हम मरसक कोशिश करें। इसी तरह यदि भूखो की भीड़ को कुछ भोजन देने का अवसर आता है तो उस समय हमारा सहधर्मी और विधर्मी आदि का विचार करने लगना अनुचित और पाप है।

हर आदमी को यह भी सीखना है कि हमें निस्पक्ष हो कर सब के गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करनी चाहिए। हम इतने संकीर्ण हृदय के हो गये हैं कि अगर कोई

दूसरे धर्म वाला त्याग और कष्ट सहन की मिसाल पेश करता है तो हम उसकी तारीफ नहीं करते; यदि कही उसका उल्लेख करना ही हो तो अपने शब्दो मे कृपणता का परिचय देते है। इसके खिलाफ हम अपने सहधर्मी के मामूली से भले काम की भी खूब सराहना करते है, उसकी प्रशसा के पुल बाँध देते है। अनेक बार अच्छे अच्छे लेखक, कवि, इतिहासकार और सम्पादक भी इस विषय मे दोषी पाये जाते है।

इसी तरह यदि कोई अपराधी हमारे धर्म का अनुयायी होता है तो हम उससे सहानुभूति रखते है, और जहाँ तक बने उसे कानूनी सजा से बचाने की कोशिश करते है। और, अगर उसे फाँसी दी जाती है तो हम उसका शहीद के रूप मे आदर मान करते हैं। इसके खिलाफ अगर अपराधी दूसरे धर्म या सम्प्रदाय का है तो हम उसे बदनाम करते है और उसे अधिक से अधिक सजा दिलाने का प्रयत्न करते हैं, उसके साथ ही उसके दूसरे सहधर्मियो को भी षडयन्त्र में शामिल समझते हैं। इस तरह हम मामूली मामलो को दो सम्प्रदायो के बीच कलह का रूप दे देते है।

जो धर्म हमे इतना पक्षपाती और अन्यायी या अन्याय पसन्द करने वाला बनाता है, मानव समाज मे अपने पराये का भेद-भाव पैदा करता है, उसे 'धर्म' कहना गलत है। हर देश मे समय-समय पर ऐसे महानुभाव हुए है, जिन्होने अपराध करने वाले को उस अवस्था मे भी दंड दिया या दिलवाया जब कि अपराधी स्वयं उनका भाई, बेटा या और कोई रिश्तेदार था। ये उदाहरण अनुकरणीय है। परन्तु आजकल के धर्मों और सम्प्रदायो के अनुयाइयो मे ऐसी भावना कितनी कम है!

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने कहा है—"पहले किसी ज़माने मे मसजिद मे सब मज़हब वालों को जाने की इजाज़त थी। मदीने मे जो मसजिद है, उसमें पहले मुसलमान भी नमाज़ पढ़ते थे और ईसाई भी दुआ करते थे। बदकिस्मती से वह दिन आज नहीं रहा। आज क्या से क्या हो गया है। लोग पुराने ज़माने के मज़हब को भूल गये है।" बहुत सी बातें हम केवल सिद्धान्त रूप मे ही मानते है; हमारा व्यवहार उनके अनुसार नहीं होता। हिन्दू ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है, पर उसका दर्शन करने के लिए मदिरो मे ही जाता है, वह इसके लिए मसजिद या गिरजा मे जाने का विचार नही करता। और उसे यह भी सहन नही होता कि कोई दूसरे धर्म वाला उसके मदिर मे आसके। वह 'हिन्दू देवी देवताओ' मे विश्वास रखने वाले अपने हरिजन भाई को भी मदिर-प्रवेश की इजाज़त देने मे झिझकता है। जो हिन्दू हरिजनों के प्रति कुछ 'उदारता' का भाव रखने लगे हैं, उनमे से भी कितने ही यह सोचते है कि किसी मुसलमान या ईसाई के आने से तो मदिर अपवित्र हो ही जायगा।

निदान, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे धर्मो के कट्टर अनुयायी अपने अपने को एक दूसरे से अलग मानते हैं। अफसोस की बात है कि किसी भी देश में धर्म के नाम पर कोई गिरोह यह मांग करे कि व्यवस्थापक सभाओ आदि के लिए चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर हो, हमारे सदस्यो के लिए स्थान सुरक्षित रहे, उनका जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व हो, हमारे सम्प्रदाय वालो को अमुक संख्या मे सरकारी नौकरियाँ अवश्य मिलें, चाहे उनमें उसके लिये योग्यता हो या न हो, और चाहे इस से दूसरे धर्म वालों के साथ

अन्याय होने के अलावा शासन के काम मे भी कठिनाई पैदा हो।

कुछ लोग धर्म के ही आधार पर राष्ट्र या कौम बनाना चाहते है, जिससे अन्त मे देश के भी टुकड़े टुकड़े होने की बात सामने आती है। इस गलत धारणा से केवल हिन्दू और मुसलमानों के लिए ही अलग अलग राज्यो की बात नही रहती। दलित समझी जाने वाली जातियो के अखिल भारतीय सम्मेलन के अध्यक्ष ने उन जातियो की अलग बस्तियाँ बसाये जाने की माँग की। इसी तरह एग्लो इडियन असोसियेशन की देहली प्रान्त की सालाना बैठक मे सभापति ने यह विचार प्रकट किया कि एग्लो इंडियनो का एक अलग उपनिवेश कायम किया जाय, जहाँ उनके अपने स्कूल, अपने अस्पताल, और दूसरी अपनी अलग सस्थाएँ हो। जब कि किसी धर्म के लोग किसी देश भर में फैले हुए हो, और शिक्षा, आजीविका आदि के लिए उनका अलग अलग स्थानों मे रहना ज़रूरी और उनके लिए लाभदायक हो तो उन सब को एक ही जगह मे रखना अव्यावहारिक और अहितकर है। और, कोई देश उस समय तक सभ्य कहलाने का हकदार नहीं है, जब तक उसमें धर्म की पूरी आजादी न हो; न वह मनुष्य मनुष्य कहला सकता है, जो दूसरे धर्म वालों के साथ प्रेम से मिल जुलकर अच्छे पड़ोसी की तरह न रह सके। धर्म के आधार पर अलग अलग राष्ट्रो की कल्पना, और उसी आधार पर किसी एक देश के टुकड़े करने की प्रवृत्ति दोनो मनुष्य की भावी उन्नति और मानव समाज की भावी एकता मे बहुत बड़ी रुकावटे हैं।

कितने दुख का विषय है कि विविध धर्म आज मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ों में बाँट रहे है, और विश्व-बंधुत्व जैसे असूलो, सिद्धान्तो या आदर्शों की बात करते हुए

भी मानव समाज के बीच स्वयं ऊँची ऊँची दीवारो के रूप मे खड़े हैं, जिन्हे पार करके मनुष्यो के लिए एक दूसरे को गले लगाना, और एक दूसरे के सुख दुख मे साथ देना अत्यन्त कठिन हो रहा है। इन दीवारो को तोड़ने, या इनके बीच मे आने जाने के लिए दरवाजे बनाने, के समय समय पर प्रयत्न हुए हैं, उन मे अभी तक पूरी सफलता नहीं मिली, परन्तु विशाल मानव समाज के हित के लिए यह काम करना ही होगा।

एक बात और ध्यान देने की है। बहुत से आदमियो के लिए धर्म इस जीवन की, या नकद व्यवहार की, चीज़ न होकर केवल उधार या भविष्य का ही कारोबार रह गया है। जिस तरह कुछ लोग तरह तरह के कष्ट सहकर भविष्य के लिये धन सम्पत्ति जोड़ जोड़ कर रखते है, उसी तरह दान पुण्य पूजा पाठ आदि बातो में हमारी नजर केवल इसी तरफ रहती है कि हमारा परलोक सुधरे, मरने पर हमारी सद्गति हो। हम यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि हमारे कार्यों से हमारा नागरिक जीवन अच्छा बने, हमारा विकास हो, और दूसरे आदमियों की उन्नति मे सहायता मिले। जब हमारी सब कामो की कसौटी केवल परलोक ही का सुधार होती है तो हम धर्म के नाम पर अनन्त धन और सामानका दुरुपयोग करते रहते है। मिसाल के तौर पर एक आदमी सवेरे से शाम तक कोई मेहनत मजदूरी नही करता, कोई ऐसा मानसिक या शारीरिक काम नहीं करता, जिससे नगर-निवासियो का हित हो। वह केवल स्नान, ध्यान, पूजा पाठ में ही लगा रहता है। उसे धर्मात्मा क्यों कहा जाय, और उसे दूसरे नागरिको द्वारा उत्पन्न सामग्री से अपने लिए अन्न वस्त्र की ज़रूरतें पूरी करने की सुविधाएँ क्यों दी जायँ!

अगर उसके पास उसके माता पिता आदि की कमाई हुई सम्पत्ति है तो भी उसे अपने लिए खर्च करने का क्या अधिकार है जबकि वह खुद कुछ काम नहीं करता ! वह सम्पत्ति दूसरे आदमियो के सहयोग से ही पैदा हुई है, और समाज के हित के लिए खर्च की जानी चाहिए।

कोई आदमी यदि किसी ऐसी जाति या वंश मे पैदा हुआ है, जिसे 'धार्मिक' कहे जाने वाले ग्रन्थो मे ऊँचा माना गया है तो इसमें उसे क्या श्रेय है, इससे उसे दूसरो की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ या रियायतें क्यो मिलनी चाहिएँ ! इसी तरह नीची मानी जाने वाली जाति मे पैदा होने वाले आदमी ने क्या अपराध किया है कि वह अपने दूसरे भाइयो द्वारा अस्पृश्य या घृणित समझा जाय !

क्या यह लज्जा और शोक का विषय नहीं है कि जिन स्थानो को धर्म का केन्द्र या तीर्थ माना जाता है, वहाँ का ही नागरिक जीवन प्रायः सबसे अधिक खराब है, वहाँ ही सबसे अधिक मुफ्तखोरे, सबसे अधिक स्पृश्यास्पृश्य विचार, सबसे अधिक भिखारी, सबसे अधिक धर्मान्धता, कायरता और जी-हुजूरी है।

बड़े बड़े मन्दिरो के लिए जो आलीशान और भव्य मकान हैं, और उनमें जो असंख्य जनता की गाढ़ी कमायी का पैसा है, उसका जनता के लिए क्या उपयोग है ? इन्हीं जगहो मे अनेक आदमी बिना घर के और बिना किसी खाने पीने के साधन के रहते है। कैसी विषमता है ! यदि मंदिरों की इमारतो और संम्पत्ति का बँटवारा इन दरिद्रो मे हो जाय तो क्या भगवान को इस बात की प्रसन्नता न होगी कि उस की इतनी सन्तान की दशा सुधारने में मन्दिरो का उपयोग हुआ ? और

परम पिता भगवान को अपने लिए इस विलास-सामग्री के उपयोग की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी प्यारी सन्तान अन्न वस्त्र के लिए तरस रही हो !

हाल की बात है। ६ फरवरी १६४४ को देहली मे शतकोटि महायज्ञ समाप्त हुआ। कहा जाता है कि इसमे पाँच लाख रुपया खर्च हुआ और ७६० मन अन्न (तिल, राई, जौ, चावल), ११ मन चन्दन, १० मन चीनी, ५०० मन घी और ८०० मन लकड़ी काम आयी। यह सब सामग्री ऐसे समय मे अग्नि की भेंट की गयी, जबकि भारतवर्ष के बंगाल आदि कई प्रान्तो मे लाखो मर्द, औरत और बच्चों ने भूख से तड़फड़ा तड़फड़ा कर प्राण दिये, और कितनो ही ने दरख्तो की छाल, पत्ते या घास खा खा कर अपनी जान बचाने की कोशिश की, और इन मे से बहुत से पीछे तरह तरह की बीमारियो के शिकार हुए। अगर ऊपर लिखी हुई सामग्री भूख से व्याकुल दरिद्रनारायण को दी जाती तो कितना उपकार होता और ईश्वर भी प्रसन्न होता। लेकिन भावुक धर्म-प्रेमी लोगो का कहना है कि यज्ञ करने से वह सामग्री न जाने कितनी गुनी अधिक मात्रा मे फिर पैदा होगी। ऐसे लोगों से तर्क करना व्यर्थ हो जाता है। ये अंधविचार मनुष्य-समाज की आर्थिक और नागरिक उन्नति में भयानक रूप से बाधक हैं।

बात यह है कि अलग अलग सम्प्रदायों के अपने धार्मिक विचार या अलग अलग रीति रिवाज ही नहीं होते, उनके तरह तरह के अद्भुत सामाजिक या राजनैतिक सिद्धांत भी होते है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत से लोगो को लोकतत्र राज्य और तलाक का अधिकार मान्य नहीं है। बहुत से मुसलमान इस बीसवीं सदी तक खलीफा को धर्म के नाम पर अनियत्रित सत्ता

देना चाहते रहे हैं। बहुत से सनातनी हिन्दू बाल-विवाह और छुआछूत को शास्त्रों से अनुमोदित मानते है, बहुत सो ने पिछले वर्षो मे इन रिवाजो के, कानून द्वारा, सुधारे जाने का घोर विरोध किया। इस तरह सम्प्रदायो मे ऐसी अनेक बातें हैं, जो मानव समाज के हित से मेल नही खातीं। ज़ाहिर है कि साम्प्रदायिक रीति रस्मो, रूढ़ियो और अंधविश्वास के आधार पर समाज का सगठन नही हो सकता। उसके लिए व्यापक बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक, और सांस्कृतिक आधारो ही से काम चलेगा। ज़रूरत है कि धर्म मे इस उदार दृष्टिकोण को स्थान दिया जाय, तभी वह धर्म नागरिक जीवन के सुधार में सहायक हो सकता है और भविष्य के लिए सच्चे धर्म का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

सत्तरहवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद

वह समय जल्दी आ रहा है, जब किसी आदमी को देशभक्त कहना उसका बहुत ही अपमान करना समझा जायगा। देशभक्ति का अर्थ अब यह रह गया है कि जिस राज्य में हमारा जन्म हुआ है, उसके खास खास अधिकार-प्राप्त वर्गों के हित के लिए दूसरे देशो को लूटा जाय। —*टाल्स्टाय*

कोई गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिए कोशिश करे तो उसकी वह राष्ट्रीयता मानवता के अनुकूल होगी, और, वह ऐसी महान होगी कि उसके पीछे प्राणो का भी उत्सर्ग करना गौरव की बात होगी। लेकिन

जहा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाये रखने के लिए कोशिश करे, वहा मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का—मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने मे जान की बाजी लगादे।

—रघुवीरशरण दिवाकर

हम पहले कह चुके हैं कि सामाजिक संगठन मे गाँव और नगर के बाद राष्ट्र भी एक जरूरी और उपयोगी सीढ़ी है। सार्वभौम या विश्व-राज्य तक पहुँचने के लिए राष्ट्र भी एक मजिल है। परन्तु इस लक्ष्य को भुला देने पर राष्ट्रीयता मानवता के वास्ते अहितकर और विघातक हो जाती है। यह राष्ट्रवाद का दुरुपयोग है। इसी पर यहाँ विचार करेंगे। पर इससे पहले नागरिक भावना या प्रान्तीयता के दुरुपयोग का भी उल्लेख कर दिया जाय, क्योंकि राष्ट्र ग्राम, नगर और प्रान्तो का ही बनता है।

'गाँव और नगर' शीर्षक अध्याय में हमने बताया है कि हर नागरिक को अपने गाँव या नगर से खूब प्रेम होना चाहिए और उसकी उन्नति या सुधार की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी याद रखें कि हम विशाल मानव जाति के अंग हैं और उसके प्रति भी हमारा कर्तव्य है। कहा जाता है कि प्रेम अन्धा होता है। अपने गाँव या नगर का प्रेम हमे अपने दूसरे कर्तव्यों से विमुख न करदे। अगर हमारा कोई नागरिक भाई कोई खराब काम करे या दूसरी जगह के रहने वालों को हानि पहुँचावे तो हमें यह सोच कर उसका पक्ष न लेना चाहिए कि वह हमारे गाँव या नगर का है। इसी तरह अगर कभी नगर भर के आदमी कोई बेजा काम करें

तो हमें उन सबका विरोध करने को तैयार रहना चाहिए, चाहे इससे हमे कितना ही कष्ट सहना पड़े। विश्वबन्धुत्व के लिए यह हमारे अपने स्थानीय प्रेम की आवश्यक मर्यादा है।

गांव और नगर से आगे बढ़ कर हम देश या राष्ट्र पर आते है पर कुछ लोगो की दृष्टि अपने प्रान्त तक ही परिमित रहती है। वे उससे आगे राष्ट्र-हित का विचार नहीं करते। यही नहीं, कभी कभी यह जानते हुए भी कि उनकी नीति के अनुसार काम होने से राष्ट्र को हानि पहुँचेगी, वे अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नही होते। मिसाल के तौर पर हिन्दुस्तान को ही लीजिए। यहाँ अनेक शिक्षित और समझदार कहे जाने वाले लोग भी प्रान्तीयता के शिकार बने हुए है। खास कर सन् १९३५ ई० के शासन-सुधारो के बाद यह रोग बहुत बढ़ गया है। कही हम बगाली-बिहारी समस्या देखते हैं, कहीं बगाली-मारवाड़ी, कही महाराष्ट्रीय-हिन्दुस्तानी और कही तामिल-तैलिगू आदि। जैसा कि 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' पुस्तक मे बताया गया है, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय उन्नति का ध्यान रखते हुए ही हमे अपने प्रान्त की भलाई की कोशिश करनी चाहिए। हर प्रान्त के निवासियो को चाहिए कि वे दूसरे प्रान्तो से यहाँ आकर बसे हुए लोगो के प्रति किसी तरह का द्वेष भाव न रखें; वे यह न भूलें कि ये दूसरे प्रान्तो वाले भी हमारे ही राष्ट्र के है। साथ ही जो व्यक्ति अपने प्रान्त से बाहर किसी दूसरे प्रान्त मे रहते हो, उनका भी कर्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहाँ की तरह तरह की उपयोगी संस्थाओ की तरक्की मे हिस्सा लें और वहाँ के निवासियो से मिल जुल कर रहें। जब तक ऐसा न होगा, और आदमी प्रान्तीयता के शिकार रहेगे, तब तक राष्ट्र-हित की अवहेलना

तो होगी ही, किसी प्रान्त की भी असली और टिकाऊ उन्नति नहीं हो सकती।

इसी तरह राष्ट्रीयता के सवाल पर विचार किया जाना चाहिए। हम पहले कह आये हैं कि सच्ची और उदार राष्ट्रीयता मानवता की विनम्र और वफादार सहायक है। दुर्भाग्य से ऐसी राष्ट्रीयता बहुत कम है, और हमारे सामने राष्ट्रीयता के दुरुपयोग के ही उदाहरण अधिक आते हैं। अपने इस संकुचित और उग्र रूप में राष्ट्रवाद मानव जाति के टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह राष्ट्रवाद एक देशीय होता है। इसका उद्देश्य एक खास राष्ट्र को ही लाभ पहुँचाना होता है। इसके चक्कर में आकर आदमी दूसरे देश वालों के साथ पागलो का सा व्यवहार करने लगता है। ऐसे आदमियो के, लाला हरदयाल ने कई लक्षण बताये हैं; उन में से कुछ ये हैं—

(क) वे केवल अपने ही राष्ट्र के बारे मे सोचते और बातें करते हैं। दूसरे राष्ट्रों के भले की उन्हे कुछ चिन्ता नहीं होती। विशाल पृथ्वी के सारे नक्शे पर उन्हे सिर्फ अपना छोटा सा देश ही दिखायी देता है। ये अपने काव्यो में, अपने साहित्य में, और अपने इतिहास में दूसरे देशों का ज़िक्र अपमान, ईर्षा और घृणा के साथ करते हैं, और अपने राष्ट्र की हर बात को बढ़िया रंगों में चित्रित करते है। अंगरेज कवि टैनिसन फ्रांसीसियो के स्वाधीनता-प्रेम को 'स्कूल के लड़को का जोश' कहता है। शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड की तारीफ मे अपने देश को 'तेजोमयी भूमि, मंगल देवता का निवास-स्थान' आदि कहा है। जर्मनों ने युद्धगीत में गाया है कि "परमात्मा इंगलैण्ड को दंड दे।" भारत का कवि कहता है—

"निगाहों मे मेरी भारत तू ही कुल जहाँ मेरा।"

(ख) ऐसे लोग अपने ही देश का इतिहास पढ़ते हैं, और उसकी छोटी छोटी बातो को भी खूब महत्व देते है, बिलकुल मामूली अप्रसिद्ध तिथियो को याद रखने की चेष्टा करते है, लेकिन उन्हे संसार के इतिहास से कुछ मतलब नही होता, वे दूसरे देशो की बड़ी बड़ी घटनाओ की ओर भी ध्यान नहीं देते।

(ग) इस तरह के राष्ट्रवादी यह विश्वास करते हैं या विश्वास करने का बहाना करते है कि हमारा देश और हमारी जाति ससार भर मे हर दृष्टि से सब से बढ़-चढ़ कर है। उसके से फल, उसका सा जलवायु, दृश्य आदि और कहीं भी नही मिलते। सेसिल रीड्स ने अपनी वसीअत मे यह दावा किया था कि इतिहास में जितनी जातियाँ हुई हैं उनमें से अंगरेज़ जाति सब से सुन्दर है। जर्मन कवि कारनर ने गाया था—कि 'जर्मन राष्ट्र! तू सब से बढ़कर और सब से शानदार है।' डेनियल वेब्स्टर ने कहा था 'ईश्वर का धन्यवाद है, कि मैं अमरीकन हूँ।' शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड को 'दूसरा ईडन,* आधा स्वर्ग' कहा है, यद्यपि वहाँ बेहद गर्मी और कोहरा भरा रहता है। सिलवियो पेटिको ने अपने एक गीत में कहा है—'हे इटली! क्या तू सब देशो मे सब से अधिक सुशील नहीं है! क्या तू हर सुन्दर कला की जननी नहीं है!' भारतीय कवियो ने गाया है—

'महिमंडल में सुन्दरतम, यह भारतवर्ष हमारा है।'

* बाइबल के अनुसार ईडन में आदम और हव्वा नाम के सब से पहले पुरुष और स्त्री पैदा हुए थे, जिनसे, पीछे सब मानव सृष्टि पैदा हुई।

अथवा

'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा।'

सचाई तो यह है कि संसार के हर देश में कुछ गुण होते है, तो दोपो का भी कहीं अभाव नहीं होता, लेकिन ये तंगख्याल राष्ट्रवादी अपने नशे मे इस बात को भूले रहते हैं। बुद्धिमान आदमी का काम है कि अपने देश को इसी तरह प्यार करे, जैसे कोई सच्चा सपूत अपनी मा को प्यार करता है। उसे यह बहस करने की ज़रूरत नहीं कि मेरी मा दुनिया भर की स्त्रियों से बढ़ कर है।

(घ) इस तरह के उग्र राष्ट्रवादी इस बात का दावा करते हैं कि हमारे राष्ट्र का दुनिया के इतिहास में एक खास और निराला उद्देश्य है, और हम दूसरे राष्ट्रो से उच्च कोटि के हैं। यहूदी अपने आपको "परमात्मा की खास चुनी हुई संतान" कहते है। उनकी निगाह में सब गैर-यहूदी जातियाँ असभ्य हैं। यूनानी दूसरे देश वालो को 'बारबेरियन' यानी बर्बर कह कर उनसे घृणा करते थे। हिन्दुओं ने अपने को आर्य (श्रेष्ठ) जाति का कहते हुए अनार्य शब्द का अर्थ ही असभ्य कर डाला; दूसरी कौमो के लिए 'मलेच्छ', 'राक्षस' 'यवन' आदि शब्दो का व्यवहार करके उनकी भी यही गति की। फ्रांस के मशहूर उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का कहना है, 'ए फ्रांस ! संसार के लिए इस बात की ज़रूरत है कि तू ज़िन्दा रहे। मैं फिर कहता हूँ, मानव जाति के लिए फ्रांस ज़रूरी है।' गौरांग जातियाँ संसार भर की रंगदार जातियों को असभ्य समझती हैं, और उन्हे सभ्य करने का बीड़ा उठाए हुए हैं, और इसी 'परोपकार' के भाव से वे उन पर अधिकार जमाये हुए हैं, क्योंकि (उनकी निगाह में) ये असभ्य जातियाँ खुद अपनी हकूमत करने के

क़ाबिल नहीं है, यदि उन्हे गोरो का संरक्षण न मिले तो वे आपस मे लड़-लड़ कर मर जाँय। जर्मनो ने अपनी पृथक् संस्कृति का ऐसा गर्व किया कि वे अपनी जाति के सभी आदमियो को 'मनुष्य से बढ़ कर' ('सूपरमेन') मानने लगे। अहंकार या दम्भ की सब जगह हद हो गयी। सच्ची बात यह है कि किसी राष्ट्र का स्थायी रूप से दूसरों की अपेक्षा कोई खास या उच्चतर स्थान नहीं है। सब राष्ट्र मानव जाति रूपी एक विशाल परिवार के हिस्से हैं, सभी को अपना अपना काम करना है, ऊँच नीच की सारी भावना मूर्खता पूर्ण है।

(च) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण और अनियंत्रित प्रभुता चाहता है। यही उनका आराध्य और इष्ट है। औलीवर वेंडल होम्स ने हर्षोन्माद मे गाया था—'एक झंडा, एक भूमि, एक हृदय, एक मत और सदैव एक राष्ट्र।' इसके ख़िलाफ़ सच्चा विश्व-प्रेमी चाहता है कि आखरी शक्ति विश्व-राज्य मे रहे, वह अपने देश को शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उस विशाल विश्व-राज्य का अग समझता है। वह जानता है कि अन्तिम प्रभुत्व वाला राज्य एक और केवल एक ही होना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी एक है, और मानव जाति एक है। इसके विपरीत, संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने छोटे से राष्ट्र-राज्य और उसके प्रतीको—झंडे और गीत आदि—के पीछे पागल रहता है। वह अपनी मातृभूमि या अपने राष्ट्र-राज्य के लिए अपनी जान न्यौछावर करने को हरदम तैयार रहता है, परन्तु उसकी खातिर वह दूसरो के प्राण लेने मे तनिक भी संकोच नहीं करता।

(छ) ये लोग जनता को इस बात की शिक्षा देते हैं कि मानव समाज के संगठन का सर्वोच्च आदर्श राष्ट्रीयता है।

अपने राष्ट्र या राज्य की सीमा से बाहर की जनता के हित के लिए कोई काम करना इन्हे असम्भव और काल्पनिक मालूम होता है। ये अन्तर्राष्ट्रीयता के सब स्वरूपों को अनुचित समझते है और उनका विरोध करते है। ये धार्मिक और वैज्ञानिक संस्थाओ को भी राष्ट्रीय ढांचे मे ढालने की कोशिश करते है। ये खेलो और कलाओ तक को राष्ट्रीय ढंग से संगठित करते हैं। आह! ये लोग सचाई सौन्दर्य और मनोरंजन तक का 'राष्ट्रीय' विभाजन करते है। इस तरह का व्यवहार प्रकृति के विरुद्ध है, और मानव समाज के सामूहिक हित के भी विरुद्ध है।

(ज) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र-राज्य की आराधना करता है, वह हर तरह उसकी शान बढ़ाने की फ़िकर मे रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह अपने राष्ट्र के धर्म, कला, विज्ञान और साहित्य की निस्वत उसकी सैनिक विजय, राजनैतिक गौरव या आर्थिक उन्नति को अधिक महत्व देता है। पाशविक बल और धन बल ये दो बल ही राष्ट्र-राज्य के आराध्य, होते है। ऐसे लोग शेक्सपीयर, स्पेन्सर और गेटे की अपेक्षा नेपोलियन, नेलसन और बिस्मार्क की अधिक शानदार यादगारें खड़ी करते है। इन आज कल के देशभक्तो से प्राचीन मंगोल और असीरियन विजेता अधिक ईमानदार होते थे; वे अपनी विजयो की स्मति में सीधे-सीधे नर मुंडो की मीनारें खड़ी करते थे परन्तु ये उसी तरह के कामो के लिए पत्थर और धातुओ के मीनारें बनाते है। किन्तु जिन्हे ज्ञान-चक्षु प्राप्त हैं, जिनमें कुछ विचार-शक्ति बाकी है, उन्हे सहज ही इन पत्थरो और धातुओं में खोपड़ियाँ और हड्डियाँ दिखाई दे सकती हैं। ऐसा राष्ट्रवाद दुनिया के बच्चों मे पाशविक भावना भर देता है, क्योकि यह

राष्ट्रवाद पाठ्य पुस्तकों द्वारा बच्चों के हृदय पर जूलियस सीज़र, सिकन्दर, नेपोलियन, चंगेज़ ख़ां, वेलज़ली और किचनर का चित्र खैंचता रहता है, जबकि अनेक संतों, महात्माओं, जिज्ञासुओं और सच्चे लोकसेवकों को या तो भुला दिया जाता है, या उनका उल्लेख मात्र किया जाता है। इस राष्ट्रवाद के वातावरण मे कविता एक बांदी या दासी का काम करती है। अच्छे अच्छे कवि अपनी योग्यता और प्रतिभा नेताओं, राजाओं, सरदारों या शासकों की सेवा में अर्पित करते रहते है, और योद्धाओं और विजेताओं के गीत गाकर धन और सम्मान पाते हैं। भारतवर्ष के रामायण और महाभारत, ईरान का शाहनामा, और यूनान के ईलियड और ओडेसी—किसी भी प्राचीन महाकाव्य का विचार करके देखें, उनमें दूसरी कितनी ही बातों का समावेश क्यों न हो, उनके प्रधान नायक नायिकाएँ अधिकतर युद्ध-वीर ही रहे हैं। और, आजकल के महाकाव्यों मे से भी अधिकांश का मुख्य आधार युद्ध और हत्याकांड की कथाएँ ही हैं। इस उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार के कारण आज कल बहुत से आदमियों के लिए युद्ध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होगया है; कवि कहता है *—

समर के गायेंगे हम गान।

समर ही जीवन का उच्छ्वास, समर ही यौवन का उल्लास॥
समर में पौरुष ने उद्दाम, सदा ही पाया सकल विकास॥
समर ही करता हमें महान, समर के गायेंगे हम गान॥

भारतवर्ष अपने पराधीनता-पाश को तोड़ फैंकने के लिए राष्ट्रवाद की शरण ले रहा है। यह आवश्यक और क्षम्य

* श्री० राय दुर्गाप्रसाद जी रस्तोगी, 'शुभचिन्तक' मे।

भी है। फिर भी उसके झंडा-गान की नीचे लिखी पंक्ति से विचारशील हृदयो को ठेस लगनी स्वाभाविक है—

'विश्व विजय करके दिखलावें, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।'

विश्व तो एक ही है; यदि सभी राष्ट्र उसे विजय करने लगें तो विश्व की कैसी दुगर्ति हो।

उग्र राष्ट्रवाद राज्यों मे युद्ध कराता है। प्रभुत्व के प्रतीक जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना है। राज्यो मे शिक्षा और चिकित्सा के लिए स्कूल और अस्पताल चाहे न हो, हर एक राज्य में सेना अनिवार्य मानी जाती है। हर राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रो के भले की परवाह न करना, और उनसे घृणा करना सिखाया जाता है। इसलिए एक राष्ट्र के नागरिक खूनी लड़ाइयो में भी दूसरे राष्ट्रवालो से बाजी ले जाना अपना कर्तव्य समझते हैं। नीति और सदाचार केवल कुछ आदमियो का कभी कभी लिखने या पढ़ने का विषय रह जाता है, व्यवहार मे तो युद्ध-शास्त्र को ही प्रधानता मिलती है। और, युद्ध में जब नर-हत्या तक की प्रशसा की जाती है तो चोरी झूठ, छलकपट तो आदि मामूली बात ठहरी। हर राष्ट्र संसार की सम्पत्ति को सब के साथ मिलकर प्रेम पूर्वक उपभोग करने के बजाय उसे स्वयं अधिक से अधिक हड़पना चाहता है। यह घृणित लालच ही सब झगड़ा कराता है। इसकी चरम सीमा आज कल के पूँजीवाद मे जाहिर होती है। इसके बारे में आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि उग्र या संकीर्ण राष्ट्रवाद विशाल मानव संगठन के मार्ग में एक भयंकर बाधा है। इसे हटाया जाना चाहिए; मनुष्यों को अपना काम और नीति विश्व-बधुत्व और मानवता के दृष्टिकोण से निर्धारित करनी चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद

कोई भी देश जब किसी दूसरे देश को अपनी गुलामी मे बाँधे रखता है, तब यह खुद भी आज़ाद नही हो सकता। इसलिए जब तक फ्रॉस अपने उपनिवेशो को, अमरीका फिलीपाइन्स को और सुदूर पूरब के देशों को, और ब्रिटेन हिन्दुस्थान और अफ्रीका, कनाडा, मिश्र आदि को पूरी तरह आजाद न कर देगा और उन्हे अपनी तरक्की का खुला मौका न देगा—तब तक फ्रॉस, अमरीका और ब्रिटेन सुख से जिन्दा नही रह सकते। —*लेनिन*

ब्रिटेन चाहे समझे या न समझे, हमें—संयुक्तराज्य अमरीका वालो को—यह समझना चाहिए कि ऐसा संसार, जिसका आधार साम्राज्य के पुराने सिद्धान्त पर या साम्राज्यशाही पर हो, अब असम्भव है; अब यह चल नही सकता। —*श्रीमति पर्ल बक*

पिछले अध्याय मे यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद किस तरह सामाजिक विकास की आगे की उन्नति मे बाधक होता है। अब हम साम्राज्यवाद के बारे में विचार कराते हैं। यहाँ इस बात को दोहरा देना जरूरी है कि प्राचीन काल के अनेक साम्राज्य उसी तरह राष्ट्र-राज्य के आगे की मञ्जिल रहे हैं, जैसे नगर-राज्य से आगे राष्ट्र-राज्य। जब हम साम्राज्यवाद का सामाजिक विकास की बाधा के रूप में, जिक्र करते हैं तो हमारा मतलब ऐसे साम्राज्यों से है, जिनमें एक राष्ट्र दूसरे राज्यो को अपने

अधीन करके उनकी धन सम्पत्ति को लूटता है, वहाँ की जनता का शोषण करता है, और, अपने आदमियो के लिए सुख और विलासिता की सामग्री जुटाने को दूसरे देशो की जनता का दमन करता है।

साम्राज्य शब्द से आम तौर पर सैनिक चढ़ाई की तरफ ध्यान जाता है, लेकिन व्यापारियों और पुरोहितों (पादरियो) ने भी साम्राज्य खड़े करने मे पूरा पूरा हिस्सा लिया है। एक देश का व्यापारी दूर देशो में जाकर वहाँ के शासकों या सरदारो को तरह तरह की चीज़ें दिखाकर उनका मन मोह लेता है, और वहाँ छोटी मोटी व्यापारिक सुविधाएँ हासिल करके अपने देश वालों के लिए मैदान तैयार करता है। इसी तरह पादरी या उपदेशक दूसरे देश के लोगों को धर्म और परलोक का सन्देश सुनाकर अपने साथ अपने धर्म वालों के लिये सहानुभूति का वातावरण बना लेता है। इसके बाद साम्राज्य चाहने वाले राष्ट्र को उस देश की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जनता की कमज़ोरी, वहाँ के सैनिक रहस्य आदि का पता लगाने में कठिनाई नहीं रहती। वह मौके की ताक मे लगा रहता है, और ठीक मौका पाते ही अपने सिपाहियों और अपने शस्त्रास्त्रो का उपयोग करके उस देश पर अपना अधिकार जमा लेता है।

आजकल साम्राज्यो का स्वरूप ज्यादहतर आर्थिक हो गया है, उनका आधार दूसरे देश वालों की मेहनत और उनके साधनों से लाभ उठाना और उन्हें चूसना हो गया है। इस साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह पूँजीवाद का ही बदला हुआ रूप है। थोड़े से शब्दों में पूँजीवाद का अथ है—'अपने लाभ के लिए माल तैयार करने की वह विकसित उन्नत व्यवस्था, जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार

किसी एक या इनेगिने विशेष व्यक्तियों का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' यह व्यवस्था खासकर यूरोप की औद्योगिक क्रांति के बाद प्रचलित हुई है, जिसका समय मोटे तौर से १७५० ई० से १८५० ई० तक कहा जा सकता है। इससे पहले यूरोप में किसानो की जमीन उनके अपने अधिकार में थी। उसमें वे आज़ादी के साथ खेती करते थे और उसकी उपज को अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकते थे। इसी तरह उस समय कारीगरो के पास अपने औज़ार होते थे। जो चीज़ें वे बनाते, उनके मालिक वे खुद ही होते थे। उन चीज़ों की बिक्री से जो आमदनी होती थी, उसपर उनका ही अधिकार होता था। धीरे धीरे इस व्यवस्था में फरक़ आया। ज़मीन पर ऐसे लोगों ने अधिकार कर लिया जो खुद खेती न कर, दूसरो से खेती कराने लगे। ये लोग 'ज़मींदार' कहे जाने लगे। इन्हें बिना मेहनत किये काफ़ी आमदनी होने लगी, और खेती करनेवालों को बहुत मेहनत करने पर भी अपना गुज़ारा करना मुश्किल होगया।

उद्योग धंधों में भी परिवर्तन हुआ। पहले सब कारीगर अपना अपना सामान तैयार करने और बेचने में स्वतंत्र थे। अठारहवीं सदी के मध्य से यह बात न रही। भाफ की शक्ति और सायन्स की दूसरी ईजादो से बड़े बड़े कल कारख़ाने बनने लगे, जिनके मालिक बड़े बड़े धनवान और साहूकार ही हो सकते थे। इन कल कारख़ानों में माल बड़े पैमाने पर और सस्ता तैयार होने लगा। बाज़ारों में ज़्यादहतर उसकी ही खपत होने लगी। मामूली कारीगरों का हाथ से तैयार किया हुआ माल महँगा होने के कारण, उसके सामने न टिक सका। उन्हें अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। बहुतों ने अपना स्वतंत्र पेशा छोड़ कर

कल कारखानों में नौकरी या मज़दूरी करना शुरू कर दिया। इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था मे समाज मोटे तौर पर दो वर्गो में बँट जाता है। एक वर्ग में बहुत थोड़े आदमी होते है, इनके पास ही सारी भूमि और पूँजी—कल कारखाने—आदि होते है, ये इतने धनवान हो जाते है कि बहुत से मज़दूरो को अपने पास रख कर उनसे काम ले सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसमें अधिकतर जनता होती है, ऐसे लोगो का होता है, जिन बेचारो के पास अपनी मेहनत करने की शक्ति के अलावा, और कोई सम्पत्ति नहीं होती। पहला वर्ग पूँजीपति या साहूकार वर्ग कहलाता है, और दूसरा श्रमजीवी या मज़दूर।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पूँजीवाद का दुनिया पर क्या असर पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि पूँजीपति जो माल पैदा करते हैं, उसमें उनका मुख्य उद्देश्य जनता की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होता बल्कि जैसे बने अधिक से अधिक नफा कमाना होता है। इसके लिए उनमें माल ज्यादह से ज्यादह परिमाण में, और सस्ते से सस्ता तैयार कराने की होड़ होती है। इसीलिए वे मजदूरों को काम की दृष्टि से कम मजदूरी देते हैं। अब एक तरफ तो माल बहुत तैयार होता है, और दूसरी तरफ मज़दूरों की (और, दुनिया में ज्यादह तादाद मज़दूरो की ही होती है) माली हालत ऐसी नहीं होती कि वे काफी माल खरीद सकें। इस तरह अपने देश मे माल की खपत कम होती है, और गोदामों में माल बढ़ता जाता है। धीरे धीरे माल खराब होने की नौबत आने लगती है। इसलिए उसे सस्ता बेचने और आगे माल की पैदावार घटाने का विचार करना पड़ता है। कई कारखाने तो बन्द ही हो जाते हैं। कारोबार और लेन देन कम हो जाने से बैङ्क फेल होने लगते हैं। इन बातो से पूँजीवादी व्यवस्था

की विफलता साबित होती है। जब ऐसी बातें इकट्ठी सामने आती है, तो कहा जाता है कि आर्थिक संकट आ गया।

यूरोप में पहला बड़ा आर्थिक संकट नेपोलियन के युद्धों के बाद सन् १८२५ में आया था। उसके बाद सन् १८३६, १८४७, १८५७, १८६६, १८७३, १८७७, १८९०, १९००, १९०७, १९२१, १९२९ और १९३९ में एक एक करके बारह आर्थिक संकट आये। इस समय महायुद्ध चल रहा है। इसके फल स्वरूप आने वाले आर्थिक संकट से बचने के लिए पुनर्निर्माण की योजनाएँ बन रही हैं।

हमने पूँजीवादी पद्धति में बहुत अधिक तैयार माल गोदामों में जमा हो जाने और उसके खराब होने की बात कही है। माल की निकासी करने, और आगे नया माल तैयार करने और उसे बेचकर नफा कमाने का सिलसिला बनाये रखने के लिए यह उपाय काम में लाया जाता है कि ऐसे दूसरे देशों के बाजारों पर अपना अधिकार जमाया जाय, जो उनका माल खरीदते रहें और उन्हें कच्चा सामान देते रहे। पूँजीपतियों का अपने पैसे के बल पर देश के शासन में बड़ा प्रभाव होता है। व्यवस्थापक सभाओं के बहुत से मेम्बर उन्हीं की मदद से चुनाव मे जीतते हैं। पैसे के बल पर कई मंत्रियों से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। यहाँ तक कि अपने यहाँ की सरकार द्वारा दूसरे देशों से युद्ध की घोषणा करा देना उनके बायें हाथ का खेल होता है। जब कोई राज्य दूसरे पर धावा करता है तो अकसर उसमें पूँजीपतियों का छिपा हाथ रहता है। इन पूँजीपतियों में से कुछ, हथियारों आदि के कारखानों के मालिक होते हैं। निदान, पूँजीवादी राष्ट्र हमेशा इस बात की कोशिश करते रहते हैं कि उनके तैयार माल की खपत के लिए कुछ बाज़ार सुरक्षित

रहें, इन बाज़ारों में किसी दूसरे का दख़ल न हो। इसीलिए ये उन देशों को पूरी तरह अपने अधीन रखना चाहते हैं।

कुछ राष्ट्र अपनी पूँजी का और कोई बेहतर उपयोग न पाकर उसे दूसरे देशों को उधार दे देते हैं, और इसके बदले में वहाँ व्यापार करने, कारख़ाने खोलने और अपना तैयार माल खपाने की ख़ास सुविधाएँ हासिल कर लेते हैं। ये राष्ट्र जो क़र्ज़ देते हैं; वह हमेशा उत्पादक कार्यों के लिए ही नहीं होता। यदि कोई राजा अपने भोग विलास और ऐश आराम के लिए कर्ज ले तो इसमें साम्राज्यवादी राष्ट्र को कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि इसमें उसे लाभ दिखाई देता है। उत्पादक कामों के लिए कर्ज लेने से तो वह देश अपने यहाँ तैयार माल बनाने और स्वावलम्बी होने की योजना करता, अब वह तैयार माल के लिए अपने ऋणदाता पर आश्रित रहता है। आर्थिक साम्राज्यवाद का उद्देश्य दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करने के बजाय, वहाँ की जनता के व्यापारिक और औद्योगिक जीवन को अपने हाथों में ले लेना होता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद का खास जोर, सन् १८७५ से १९०० तक रहा। उस समय यूरोप के राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमरीका ने संसार भर पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। हर राष्ट्र चाहता था कि आगे बढ़ कर जल्दी से जल्दी बाजी मार लूँ। हालैण्ड और बेलजियम के छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपने से साठ गुने और अस्सी गुने भूखंड को अपने अधीन कर डाला। इस साम्राज्य-विस्तार में इंगलैंड सबसे बढ कर रहा। सन् १९३९ में महायुद्ध आरम्भ होने से पहले इंगलैण्ड, वेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी आयर्लैंड का क्षेत्रफल मिला कर एक लाख वर्ग मील और आबादी पांच करोड़ थी। उसी समय

ब्रिटिश साम्राज्य का कुल क्षेत्रफल एक सौ चौतीस लाख वर्ग मील और जनसख्या पचास करोड़ थी। यह बात ध्यान देने की है कि केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और न्यूफाउंडलैड के आज़ाद उपनिवेशों की गोरी जनता केवल दो करोड़ है जो कि संसार के सौवें भाग से कम है; और यह इतनी सी जनता पृथ्वी का सातवाँ भाग घेरे हुए है, गैर-यूरोपियन या रंगदार आदमियो का इन्होने अपने अपने यहाँ आना रोक रखा है। इससे घनी आबादी वाली कौमो के लिए जमीन की कमी हो रही है और दूसरे राष्ट्रो या साम्राज्यो की ब्रिटिश साम्राज्य से ईर्षा बढ़ रही है। पाठक जानते है कि यूरोप मे इटली और जर्मनी को राष्ट्रों का रूप मिलने मे देर हुई। इस अर्से मे यूरोप के दूसरे राष्ट्रो ने संसार भर मे अच्छी अच्छी जमीनो पर कब्जा जमा लिया। इटली और जर्मनी अपने उपनिवेश बनाने में पिछड़ गये। संगठित होने पर इनमें भी लालसा पैदा हुई। फिर जापान भी मैदान मे उतर पड़ा। यह, दुनिया की भूमि और बाजार हथियाने की, लालसा ही महायुद्ध के रूप मे प्रकट होती है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, जब तक कुछ कौमों मे यह साम्राज्यवाद की भावना बनी रहेगी, तब तक न तो पृथ्वी के सब आदमियो के भोजन वस्त्र और रहने की जगह का ही ठीक प्रबन्ध हो सकेगा, और न महायुद्धो का ही अन्त होगा।

कुछ राज्यो के मिलकर संघ-राज्य बनाने को हमने सामाजिक प्रगति के रूप मे माना है, परन्तु किसी मामूली राज्य का साम्राज्य रूप धारण करना स्वाभाविक प्रगति नहीं है। साम्राज्य के विविध भागो में से कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन होते है। उनका आपस में ठीक मेल नहीं बैठता। फिर स्वाधीन भागों की भी एक दूसरे से ऐसी आर्थिक या सामाजिक घनिष्ठता नहीं होती,

जैसी उनकी अपने पास के दूसरे राज्यो से हो सकती है। मिसाल के तौर पर कहाँ इंगलैण्ड, और कहाँ उसके उपनिवेश केनेडा, आस्ट्रेलिया आदि। केनेडा का सम्बन्ध कुदरती तौर पर जितना संयुक्त राज्य अमरीका से, और आष्ट्रेलिया का जितना जापान से हो सकता है, उतना इन देशों का इंगलैण्ड से नहीं हो सकता। इस महायुद्ध में यह दिखायी दे गया कि आस्ट्रेलिया जापान से अपनी रक्षा करने में इंगलैण्ड पर निर्भर नहीं रह सकता। सम्भव है, महायुद्ध के बाद नयी व्यवस्था में इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय।

कुछ साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ कहा करते हैं कि हमारी जन-संख्या बढ़ रही है, और बढ़ने वाली आबादी के लिए हमें उपनिवेशो की जरूरत है। पर इस कथन में कोई सार नहीं है। सन् १९१३ में जर्मनी के अधिकार में दस लाख वर्ग मील भूमि थी, फिर भी अधिकाँश जर्मन अमरीका और केनेडा में ही जाकर बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेश हैं, फिर भी वहाँ के आदमी बहुत बड़ी तादाद मे अमरीका में ही जाकर रहते हैं। फिर अगर किसी राष्ट्र के आदमी योग्य, मेहनती और ईमानदार है, तो वे चाहे जहाँ रह सकते है, उन्हे राजनैतिक सत्ता के सहारे की जरूरत नहीं होती। उपनिवेशों पर कब्जा करने का असली मतलब यही है कि उनका धन चूसा जाय और पूँजीपतियो का लाभ हो। इसीलिए साम्राज्यवादी अपने अधीन देशो को आजाद नहीं होने देते, और बहुत मजबूर किये जाने पर ही उनके किसी अधिकार को स्वीकार करते है।

साम्राज्यवादियों का कहना है कि उन देशो को तो आज़ाद करना ठीक है, जो इसके योग्य हों। पर जो अयोग्य हैं, उन्हे आज़ाद कैसे किया जा सकता है, उन्हे पहले योग्य बनाने की

ज़रूरत हैं। साम्राज्यवादी भाषा में 'योग्य बनाने' का अर्थ क्या होता है, यह जानने के लिए पाठकों को दो मिसालें याद रखनी चाहिएँ—पहली यह कि अंगरेज़ शासक बार बार हिन्दुस्तान की स्वराज्य सम्बन्धी अयोग्यता की बात कहते हुए नहीं लजाते, यद्यपि उनको यहाँ शासन करते इतना समय बीत गया। इसी तरह अमरीका फ़िलीपाइन द्वीपों को ४५ वर्ष में भी स्वराज्य के योग्य न बना सका; आख़िर, जापान ने उनपर अधिकार जमा कर अमरीका को उन्हे योग्य बनाने की चिन्ता से ही मुक्त कर डाला।

फिर, योग्यता अयोग्यता को जाँचने की कसौटी क्या है? क्या एशिया और अफ्रीका का निवासी या काले रंग का होना अयोग्यता मानी जाय? इसका तो कोई उपाय ही नहीं। क्या आपसी मतभेद या लड़ाई झगड़े के कारण किसी देश को अयोग्य ठहराया जाय? फिर तो सारा यूरोप आज़ादी के अयोग्य साबित हो चुका है। ये बातें कहाँ नहीं होतीं! पराधीन देशो में शासक खुद अपने स्वार्थ के लिए इन झगड़ों को प्रोत्साहन देते रहते हैं। क्या शिक्षा का काफी प्रचार न होना अयोग्यता का लक्षण माना जाय? पर अंगरेजों के शासन में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार जिस मंद गति से हुआ है, उसके हिसाब से तो हर बालिग स्त्री पुरुष को ऊचे दर्जे की नहीं, मामूली शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी सदियो का समय चाहिए। क्या आत्म-रक्षा को स्वराज्य की योग्यता का माप समझा जाय? शक्तिशाली साम्राज्यों के सामने कोई पराधीन देश अपनी रक्षा कैसे कर सकता है! और, अब तो बड़े बड़े साम्राज्यो को भी महायुद्ध के समय दूसरे देशों की सहायता के लिए हाथ पसारना पड़ता है। निदान, योग्यता अयोग्यता की बात

में कोई दम नहीं है।

साम्राज्यवादी शासक अपने साम्राज्य का विनाश करना नहीं चाहते। उनमें जो खरे स्वभाव के हैं, वे अपनी इच्छा को छिपा कर भी नहीं रखते। श्री० चर्चिल के ये शब्द बिल्कुल साफ है—'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए सम्राट् का प्रधान मन्त्री नहीं बना हूँ।' ज़ाहिर है कि यह दूसरा महायुद्ध भी साम्राज्यवादियो की आखें खोलने के लिए काफी नहीं है। वे अब भी अपने अहंकार और नशे में मस्त है। पर वे सुनें या न सुनें, साम्राज्यवाद का अन्त निश्चित है!

साम्राज्यवादी, संसार भर में सभ्यता, एकता और शान्ति के प्रचार का दम भरा करते हैं। लार्ड हेलीफेक्स ने, जो लार्ड इरविन के नाम से हिन्दुस्तान में गवर्नरजनरल रह चुके हैं, जनवरी १६४४ में वाशिङ्गटन में भाषण करते हुए कहा कि 'मैं ख्याल करता हूँ कि हम इस बात का खासा दावा कर सकते है कि हमने भारतवर्ष को युद्ध के बजाय शान्ति, फूट की जगह एकता, अराजकता की जगह सुव्यवस्था, और स्वेच्छाचारी शासको की ग़ैरजिम्मेवर हुकूमत की जगह क़ानून प्रदान किया है।' यह दावा कितना उपहासजनक और निस्सार है, इस बात को हर विचारशील भारतवासी अच्छी तरह जानता है। भारत-मंत्री श्री० अमेरी ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'ब्रिटिश साम्राज्य दूसरी मानवी संस्थाओं की तरह अपूर्ण वस्तु भले ही हो, पर मुझे विश्वास है कि मानव स्वतन्त्रता और न्याय कायम करने के लिए जो जो साधन संसार ने अब तक देखे हैं, उनमे यह सबसे बड़ा है।' अमेरी साहब और उनके साम्राज्यवादी भाईबन्द चाहे जो विश्वास करें, साम्राज्य के शोषण और पीड़न का सच्चा अनुभव भुक्तभोगी अधीन देशों को ही हो

सकता है। जूता पहनने वाला ही यह जानता है कि वह कहाँ कहाँ काटता है। हम केवल मानवता-प्रेम के नाते इस विशाल साम्राज्य के वकील अमेरी साहब से पूछते है—आपके साम्राज्य ने अमरीका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के तथा महासागरों में फैले हुए विविध टापुओ के मूल निवासियो से कैसा व्यवहार किया? भारतवर्ष आदि मे अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कैसे कैसे उपाय काम मे लाये गये? जिन एशियायी देशवासियो ने स्वतन्त्रता का झडा उठाया, उनके लिए कैसे कैसे कायदे कानूनो की रचना की गयी? इत्यादि।

क्या साम्राज्यवाद शान्ति कायम रखने मे सहायक होता है? हर साम्राज्य दूसरे साम्राज्यो को आशङ्का की नजर से देखता है। इसका नतीजा यह है कि साम्राज्यो में समय समय पर युद्ध होते रहते है। फिर यदि दो तीन साम्राज्यो का मेल हो जाय तो क्या कहना? गत वर्ष जब ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री० चर्चिल ने यह कहा कि ब्रिटिश और अमरीकन राष्ट्र अपनी रक्षा और सब के हित के लिये शांति, न्याय और शान से साथ साथ चलेंगे, तो अमरीका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल बक ने स्पष्ट लिखा था कि "रंगीन लोगो के लिये इंगलैण्ड और अमरीका के शान से साथ साथ चलने का अर्थ गोरे रंग के लोगो का भयानक साम्राज्यवाद है—यह उससे भी अधिक भयानक है, जितना विजेता जापान भयानक हो सकता है।"

महायुद्ध के बाद के एग्लो अमरीकन साम्राज्य की योजनाएँ बन रही हैं। सुप्रसिद्ध निग्रो लेखक जार्ज पेडमोर ने अपने एक लेख मे कहा है।—"देश—बटवारे की नयी योजना में अमरीका वाले पूँजी लगावेंगे, और अंगरेज राजनैतिक और शासन सम्बन्धी नियंत्रण कायम रखेंगे। इस तरह ब्रिटेन और अमरीका के

पूंजीपति मिल कर उपनिवेशों का शोषण करेंगे। जब तक ब्रिटेन शक्तिशाली रहा तब तक उसने इस तरह का सहयोग कभी स्वीकार नहीं किया, किन्तु साम्राज्य पर संकट के कारण इस तरह का सहयोग ज़रूरी हो रहा है। ब्रिटेन अपने हाथ में राजनैतिक नियत्रण रखेगा, जिसका यह अर्थ हुआ कि कुछ न कुछ आर्थिक नियंत्रण भी उसके हाथ में रहेगा ही।"

यह नया साम्राज्यवाद अधिक बलवान होता दिखायी देता है, इसीलिए यह मानव जाति के विकास के लिए और अधिक बाधक होगा। परन्तु इसमें स्थिरता नहीं। सम्भव है, मानव समाज को साम्राज्यवाद की बुराई का अच्छी तरह परिचय मिलने के लिए वह अधिक बड़े और विकराल रूप में दुनिया के सामने आवे। आखिर, उसका अन्त होना ज़रूरी है, और वह होगा।

हम यह मानते हैं कि साम्राज्यवाद से कुछ लाभ भी हुआ है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही सही, साम्राज्यों ने दूर दूर तक सभ्यता की बाहरी ज़रूरतों को पूरा किया। पराधीन देशों के लिए रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, समुद्री तार, जहाज और वायुयान आदि की व्यवस्था की। इसके मूल में कोई पर-हित या कल्याण की भावना भले ही न हो, और अधिकांश में थी भी नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन साधनों द्वारा पराधीन देशों के आदमियों में विचारों का आदान-प्रदान बढ़ा, उनमें अपनी परिस्थिति के ज्ञान के साथ बाहरी दुनिया का भी ज्ञान बढ़ा। उनके कुछ अंध-विश्वास हटे, और पुराने विचार बदले। उनमें एक तरह की जागृति हुई। उन्होंने नए युग का संदेश सुना और संगठन करने और आजाद होने का बीड़ा उठाया। इस तरह उनमें जो नयी राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा हुईं, उसका कारण

एक अंश तक साम्राज्यवाद है। हम पहले कह चुके हैं, और फिर साफ कर देना चाहते हैं कि साम्राज्यवाद का यह उद्देश्य नहीं था कि वह पराधीन देशों की जनता का हित साधन करे। उसका तो एकमात्र ध्येय उन्हे अपने अधीन और कमजोर बनाये रख कर उनसे अपना स्वार्थ पूरा करना था। उसने पराधीन देशों में जो भी वैज्ञानिक या यातायात सम्बन्धी उन्नति की, वह अपने सैनिक तथा आर्थिक फायदे के लिए की। हाँ, साम्राज्यवाद के न चाहने पर भी, गौण रूप से ये बातें एक सीमा तक पराधीन देशो के उत्थान में सहायक हुई। पर साम्राज्यवाद को इसका कोई श्रेय नहीं।

साम्राज्यवाद ज्यों ज्यों बढ़ता गया, उसका स्थूल परिणाम विनाशकारी महायुद्धों के रूप में संसार के सामने आया। मानव जाति अपना हित चाहती है, उसे भयंकर विनाश से बचना है, तो साम्राज्यवाद का अन्त करना होगा। मनुष्य-समाज को अपनी मुक्ति के लिए साम्राज्य के सभी प्रतीको को, जैसे साम्राज्यिक झंडे, साम्राज्यिक गान, साम्राज्यिक नारों को समाप्त कर देना है। जब तक किसी भी एक देश के अधीन कोई दूसरा प्रदेश या उपनिवेश आदि रहेगा, जब तक कोई भी जाति या राष्ट्र साम्राज्यवादी भावना रखेगा, दुनिया में स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। मानव सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए यह ज़रूरी है कि संसार के हर देश की आज़ादी का असूल माना जाय; नहीं तो एक महायुद्ध के दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा—यह सिलसिला चलता ही रहेगा। महायुद्धों के बारे में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

महायुद्ध

—०—

अगर आदमी अपनी बुद्धि और चरित्र-बल को युद्ध के रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बंदूक से लड़ाई लड़ने में कोई ख़ास फर्क नहीं है।

—*चियांग काई शेक*

हम महायुद्ध को समाप्त करें, नहीं तो यह हमें समाप्त कर देगा।

—*अज्ञात*

युद्ध के रूप में मनुष्य जाति को चिरकाल से एक भयानक रोग लगा हुआ है। मनुष्य संधि और समझौतों की बात करता है, फिर भी लड़ना नहीं छोड़ता। श्री० एम० वेलबर्ट ने बताया है, कि ईसा पूर्व सन् १५०० से ईस्वी सन् १८६० तक लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्ष में आठ हज़ार से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय सधियाँ हुई हैं। ये सब हमेशा के लिए की गई थीं। पर इन संधियो मे से हर एक का औसत जीवन-काल सिर्फ दो वर्ष ही रहा। सृष्टि की शुरू की हालत में आदमी छोटे छोटे समूहों या क़बीलों में रहता है, और एक क़बीले की दूसरे क़बीले से लड़ाई होती रहती है। पारिवारिक जीवन में, एक ही परिवार के लोगो मे कभी कभी काफी झगड़ा होजाता है। नगर-राज्यों का निर्माण होने पर एक नगर-राज्य दूसरे नगर-राज्य से लड़ता है। कालान्तर में बड़े बड़े राज्यों का या संघ-राज्यों का संगठन होता है। ये बड़े राज्य अपनी रक्षा के लिए बड़े बने थे, पर एक ओर तो ये राज्य अपने से छोटों के लिए संकट पैदा

करने वाले वाले सिद्ध हुए, और दूसरी ओर खुद इनका जीवन भी निष्कंटक नहीं रहा; क्योंकि इनसे भी बड़े राज्यों का संगठन हुआ, या दो तीन राज्य मिल कर किसी राज्य से युद्ध ठानने लगे।

मानव जाति का युद्धो से पिंड नहीं छूटा। अब महायुद्ध होते हैं, जिनका क्षेत्र विश्वव्यापी और रूप पहले से कहीं अधिक विकराल होता है। प्राचीन काल के योद्धा एक सीमित मैदान मे लड़ते थे, दोनो दल आमने सामने होते थे। मारने वाला यह जानता था कि मै किसे मारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लड़ाई के मैदान से बाहर के आदमियो को—किसानो, मज़दूरो, दूकानदारो, बच्चो, स्त्रियो और बूढ़ो को—चिन्तित होने की ज़रूरत न थी। वे अपना समय पहले की तरह बिताते रहते थे। किन्तु अब युद्ध मे कोई सुरक्षित नही। जब दो राज्यो मे लड़ाई ठन गयी तो फिर उनके योद्धा दूसरे राज्य के सभी नागरिको से शत्रु का सा व्यवहार करते है। वे यह नही सोचते कि उनके वार का शिकार कौन होता है। हवाई बम बर्षक यत्र की भाँति अंधाधुन्ध अपना संहार-कार्य करते रहते है—चाहे निर्दोष बालक दयालु उपदेशक, परोपकारी चिकित्सक, मा बहिन के समान प्यारी महिला, कोई मित्र या रिश्तेदार ही मौत के घाट क्यो न उतर जाय। इसी तरह विरोधी राज्य की सभी भूमि नष्ट करने योग्य समझी जाती है, चाहे वहाँ खेती, कल, कारखाने, स्कूल अ.पताल, मन्दिर या गिरजाघर कुछ ही क्यों न हो। राजधानियाँ और कल कारखानों को तो खास तौर से लक्ष्य बनाया जाता है।

हम सभ्यता-युग मे रह रहे हैं। हमारा यह कैसा दुर्भाग्य है कि हम इस पीढ़ी में एक नहीं, दो महायुद्धो को देख चुके है;

छोटे छोटे युद्धो की तो बात अलग ही रही। तीस वर्ष पहले सन १९१४ मे हमने पिछले महायुद्ध का अनुभव किया था। पाँच वर्ष तक भयङ्कर मारकाट हुई थी। अनेक देशो मे शोक छा गया था। आदमी अपने होनहार बेटो, नर-रत्नो, के विछोह से दुखी थे। घर घर मातम छाया हुआ था। जिस परिवार का कोई निकट या दूर का सम्बन्धी मरा या जख्मी नहीं हुआ, वह भी आर्थिक अभावो के कारण त्रस्त था। उस समय सब शान्ति की बातें कहते और सुनते थे। बड़े-बड़े आदमी दूसरो को यह सतोष दिलाने मे लगे थे कि यह युद्ध दूसरे युद्धो का अन्त करने के लिये लड़ा गया है, अब सब सुख की नींद सो सकेंगे, किसी दूसरे युद्ध का दृश्य न देखना पड़ेगा। जहाँ तहाँ कुछ अच्छे अच्छे मस्तिष्क सुन्दर योजनाएँ बनाने में लगे थे। राजनीतिज्ञो के भाषण सुनने और लेख पढ़ने के योग्य थे। पर वह सब आश्वासन कहाँ गया? मालूम होता है, सब जबानी जमाखर्च था। स्मशान वैराग्य था। किसी मृतक को स्मशान ले जाते समय आदमी बड़ी आध्यात्मिकता, पारलौकिकता त्याग और वैराग्य की बातें किया है। पर बहुधा वह बातें दाह-क्रिया तक ही रहती हैं, उसके बाद उनका रूप बदल जाता है। यहाँ तक कि घर लौटते लौटते कितने ही आदमी वही पुरानी रोजमर्रा की सांसारिक बातों मे लग जाते हैं। यही व्यवहार हमने पिछले यूरोपीय महायुद्ध की अन्त्येष्टि पर किया।

संधिपत्र की रोशनाई सूखने भी न पायी कि नये, बढ़िया और अधिक घातक अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण की बातें चलने लगीं। बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग इसलिये होने लगा कि किस तरह आगामी युद्ध की रचना हो—वह युद्ध जो इतना महान, इतना संहारक और व्यापक हो कि सन १९१४ का युद्ध उसके

सामने कुछ चीज न गिना जाय !

महायुद्ध का डर बराबर बना रहा। हर संघर्ष को देख कर यह आशंका होती रही कि कहीं यह महायुद्ध का रूप धारण न करले। १९३६ निकला, तो ग़नीमत समझा, सन् १९३७-३८ भी किसी तरह बिताया, पर बकरे की मा कब तक खैर मनाती ! सन् १९३९ ने मनुष्य-जाति को चिन्ता-ग्रस्त कर ही डाला; फिर वही २५ वर्ष पहले की बातें। १९१४ का सा दृश्य ! उससे भी अधिक विकराल रूप में। नर-संहार अधिक, आर्थिक संकट भी अधिक और, हाँ, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें भी अधिक।

इन महायुद्धो से संसार को कितनी हानि पहुँचती है, इसका पूरा बयान करना कठिन है। उसके लिए एक पूरा ग्रन्थ ही चाहिए। हम तो यहाँ संक्षेप मे कुछ खास-खास बातों का ही जिक्र करते हैं। * विचारवान पाठक अपने मन में शेष चित्र स्वयं पूरा कर लें।

(१) युद्ध से जनता का भयंकर विनाश होता है। हम युद्धको 'पाशविक' कहते हैं, पर पशु इतने निर्दयी और झगड़ालू नही होते, जैसा मनुष्य होता है। अगर जंगली पशु बोलना और लिखना जानते तो वे हमारे युद्धों को खास कर एक ही जाति वालों के युद्धों को देख कर कहते—'ऐसा युद्ध मनुष्यों में होता है, हम पशुओ के लिए तो यह बुरा है, त्याज्य है।' सन् १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध में, सरकारी हिसाब से८५,३८,३१५ आदमी मारे गये और २,१२,१९,४५२ जख्मी हुए। उस महायुद्ध के फल-स्वरूप कितने बालक अनाथ हुए, कितनी स्त्रियाँ विधवा हुईं,कितने आदमी सन्तानहीन हुए, और कितने लोग तरह तरह के रोगों

* हिन्ट्स-आन-सेल्फ कल्चर' के आधार पर।

के शिकार हुए, इसका हिसाब ही कहीं नहीं ! उन चार साल में मानव जाति अपने कितने नौजवान कवियों, लेखको, वैज्ञानिकों, कलाकारो, शिक्षकों, चिकित्सको और लोकसेवी महापुरुषों से वंचित हो गयी ! और, अब हम एक उससे भी अधिक विकराल युद्ध मे ग्रस्त है।

(२) महायुद्ध से धन की महान क्षति होती है। यह खड़ी खेतियो को उजाड़ता है, और कारखानो को नष्ट करता है। यह लोगो की शक्ति को उपज के कामो से हटा कर हत्या करने मे लगाता है, और आगे के उत्पादन मे बाधा डालता है। यह राष्ट्रो के आर्थिक साधनो को अनुत्पादक और व्यर्थ के शस्त्रास्त्रो में नष्ट करता है। पिछले यूरोपीय महायुद्ध मे कुल ५५,४८,६०,००,००० पौड खर्च हुए। दूसरे महायुद्ध की तो बात ही क्या ! अकेले अमरीका ने सन् १९४४-४५ मे ९९ अरब ७६ करोड़, ९० लाख, यानी लगभग १ खरब डालर के खर्च का सालाना बजट बनाया था। अब रही निर्धन भारतवर्ष की बात। यहाँ सन् १९४४-४५ में ३६३ करोड़ १८ लाख रुपये के खर्च का अनुमान किया गया, जिसमें से २७६ करोड़ ६१ लाख रु० अकेले रक्षा कार्य के लिए थे, और केवल ८६ करोड़ ५७ लाख मुल्की खर्च के लिए, जिस में अधिकारियों के वेतन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि सभी आजाते है। इस खर्च को पूरा करने के लिए कई टैक्स बढ़ाये गये, फिर भी ७८ करोड़ २१ लाख रुपये की कमी रह ही गयी। यह कल्पना की जा सकती है कि युद्ध के कारण संसार के सब देशों में कितना धन स्वाहा होता है, और इसका परिमाण कहाँ तक दिन दिन बढ़ता जा रहा है। महायुद्ध से मकान, मंदिर, गिरजा, पुस्तकालय, विज्ञानशालाएँ, प्रयोगशालाएँ, चित्रशालाएँ और विद्यालय भी नष्ट होते हैं;

यह तो क़र्ज़े के सूद की तरह है।

(३) महायुद्ध आदमी मे निर्दयता को बढ़ाता है, और उसे बनाये रखता है। यह पाशविकता और अमानुषिकता का पर्यायवाची है। असीरिया के आदर्श योद्धा ने एक शिला-लेख मे अपना गर्व इस तरह प्रकट किया है—'उनके (दुशमन के) आदमियो, जवानो और बूढो को मैने कैद कर लिया, कुछ के मैने हाथ पाँव काट डाले, और कुछ के नाक, कान और होठ। जवानो के कानो का मैने एक टीला बनाया और बूढो के सिरों का एक मीनार बनाया। मैंने उनके शहर के सामने उनके सिरों का विजय-स्मारक खड़ा किया। लड़को और लड़कियों को मैने आग की लपटो मे जला डाला।' आजकल शिला-लेखो मे ऐसी बात लिखना शायद असभ्यता समझा जाता है, पर इससे असलियत मे फरक नही आता। युद्ध के समय आदमी निर्दयता करने मे असभ्य से असभ्य आदमी से बाजी ले जाने की कोशिश करता है। आज कल यूरोप के रंगरूटो को नीचे लिखी हिदायतें दी जाती है—'मुठभेड़ के समय शत्रु की आँखो मे दो अंगुलियाँ घुसेड़ना और उन्हे ज़ोर लगाकर दिमाग तक लेजाना; संगीन या किर्च की नोक घुसा कर उसे घुमाते रहना, जिससे ज़ख्म बन्द न होने पाये; कटार से पेट को ऊपर से नीचे तक चीर डालना; जो आदमी ज़ख्मी होकर ज़मीन पर पड़े हो, उनको खतम करने के लिए, उनकी छाती पर घुटना रखकर उनके सिर को ऐसे जोर का झटका देना, जिस से उनकी रीढ़ की हड्डी के जोड़ खुल जायँ।'

(४) महायुद्ध से आदमी की नसल का पतन होता है। मज़बूत हृष्ट-पुष्ट आदमी भरी जवानी मे छीन लिये जाते हैं। सन्तान पैदा करने के लिये घटिया दुर्बल आदमी रह जाते हैं।

हर लड़ाकू राष्ट्र उस आदमी की तरह होता है, जो अपना कीमती खून गवाता रहता है। युद्ध के बाद जो पीढ़ी आती है, वह आम तौर पर औसत दर्जे से कम डील डौल वाली होती है। युद्ध से राष्ट्र की धीरे धीरे आत्महत्या होती है।

(५) महायुद्ध आज़ादी और लोकतंत्र का शत्रु है। उसके कारण हर राज्य में गैर-ज़िम्मेदार नौकरशाही और स्वेच्छाचारिता कायम होने की प्रवृत्ति होती है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि सत्ता किसी एक खुदमुखतार आदमी या गुट्ट के हाथ में रहे। इस लिए समाचार-पत्रों पर 'सेंसर' (प्रतिबंध) लगा दिये जाते हैं। लोगों के भाषण और सभा सम्मेलनों में रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं। युद्ध के समय सरकार ही सब कुछ होती है; व्यक्ति का कोई स्थान नहीं रहता, और खासकर स्वतंत्र विचार वाले या बुद्धिमान आदमियो का तो उस में काम ही नहीं।

(६) महायुद्ध से स्त्रियो का दर्जा गिर जाता है। युद्ध में जिन बातों से सफलता मिलती है, वे पाशविकता और मर्दानगी हैं। पवित्रता, प्रेम, संयम, नम्रता, पर सेवा आदि शान्ति के समय चमकने वाले सौम्य गुणों से लड़ाकू राष्ट्रों में घृणा की जाती है। युद्धवाद का नायक आमतौर पर मद्य मांस और व्यभिचार का शौक़ीन अभिमानी योद्धा ही होता है। अगर वह जीतता है, तो उसके दुर्गुणों की उपेक्षा की जाती है। औरतें युद्ध में भाग कम लेती हैं, इसलिए युद्ध-रत समाज में उनका दर्जा नीचा रहने वाला ही है।

(७) युद्ध से राज्य में आर्थिक विषमता बढ़ती है, जिससे अन्त में जाकर धनी और ज्यादह धनवान, और गरीब और ज्यादह गरीब हो जाते हैं। आम आदमियों की हालत

हर सूरत मे खराब ही होती है। इंगलैन्ड ने अनेक युद्ध लड़े, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया, लेकिन उसकी राजधानी लन्दन मे महलो के साथ साथ गरीब लोगो के मैले कुचैले तग और तारीक घर मौजूद है। हर देश मे युद्ध से अमीरी और गरीबी की चरम सीमाएँ पैदा होती है, जिसका नतीजा समाज मे दुख और पतन होता है।

(८) महायुद्ध से सामाजिक और राजनैतिक सुधार का काम रुक जाता है। शस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के लिए और निरुपयोगी सैनिकों के लिए राष्ट्र की आमदनी का इतना ज्यादह हिस्सा खर्च होजाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग आदि के लिए बहुत कम रह पाता है। अनेक राज्यों को तो इतना क़र्ज़ा लेना पड़ता है कि बाद में वर्षों तक उसका भारी व्याज चुकाते रहना पड़ता है। आज कल के एक युद्ध-पोत के खर्चे से कितने स्कूल, अस्पताल अनाथालय, उद्योगशालाएँ, आदि बन सकते हैं! साम्राज्यों का व्यवहार एक ऐसे पागल का सा है जो आतिशबाज़ी में इतना खर्च कर डालता है कि पीछे उसके खाने पीने के लिए भी नहीं बचता। इस के अलावा युद्ध का एलान करने वाला साम्राज्य अपने श्रमजीवियों के आर्थिक या राजनैतिक सुधार का आन्दोलन एक तरफ उठा कर रख देता है। वह सब देशभक्तों से युद्ध में ध्यान लगाने का अनुरोध करता है।

युद्ध एक भयंकर पागलपन है, जो मानव सभ्यता पर बार बार प्रहार करता और उसकी प्रगति को रोकता है। इसका अन्त किया जाना ही चाहिए। आम लोगों में युद्ध के बारे में अनेक भ्रम फैले हुए हैं, उन्हें दूर करना ज़रूरी है। इसके लिए

आगे दी हुई बातों पर विचार करना उपयोगी होगा।*

कुछ लोगो का कहना है कि युद्ध सदा होता रहा है, और होता रहेगा। कुछ दार्शनिक इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, उनके मत से युद्ध स्वाभाविक है, और मानव विकास के लिए अनिवार्य है। वास्तव में यह बात नहीं है। स्वयं युद्धवादी भी यह नहीं कहते कि सब युद्ध अनिवार्य हैं। इसके खिलाफ़, वे अधिक हथियारों का आग्रह इसी आधार पर करते हैं कि उनसे शान्ति रखने और युद्ध रोकने में सहायता मिलती है।

शरीर के साथ रोग अनिवार्य हैं। फिर भी हमने स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे अच्छे उपायों द्वारा हैजा, कोढ़ और हैजा जैसी बीमारियों की रोक थाम कर दी है। कभी कभी उपाय असफल रहते हैं, परन्तु इससे हम उन्हे छोड़ नहीं देते, बल्कि उनका और कड़ाई से उपयोग करते हैं। कभी कभी हमारे राष्ट्रीय विधान गृह-युद्ध को रोकने में असमर्थ रहते हैं, फिर भी हम विधान का उपयोग करते ही हैं। हमें युद्धों को अनिवार्य समझकर उन्हे रोकने के प्रयत्नो मे कमी न करनी चाहिए।

कहा जाता है कि आदमी प्रकृति से ही झगड़ालू है, और उसकी प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। यह ठीक नहीं है। शिक्षा और संस्कारों से प्रकृति में भी धीरे धीरे सुधार अवश्य होता रहता है। नर-भक्षण, मनुष्य की कुर्बानी, दासता की प्रथा, बहुपत्नित्व, विधर्मियों को ज़िन्दा जलाना इसके उदाहरण हैं। आचारण के ये परिवर्तन आमतौर पर ऐसे विचारो के परिवर्तन से होते है, जैसे क्या काम करने योग्य हैं, कौन सा रुचिकर

*नार्मन एजल की 'प्रिफेस टु पीस' नाम की अंगरेजी पुस्तक के आधार पर।

या अच्छा लगने वाला है, किसके अन्त में मनुष्य जाति का हित होगा।

पहले धार्मिक भेद भाव के कारण अनेक युद्ध होते थे, वे बहुत ही बुरे थे। यह अनिवार्य नहीं था कि वे धार्मिक युद्ध जारी रहे, क्योंकि वे बन्द हो गये। जिस तरह यह ज़रूरी नही कि धार्मिक आवेश से युद्ध हो, उसी तरह यह भी ज़रूरी नहीं कि राष्ट्रीय भावना युद्ध का कारण हो। इगलैण्ड और स्काटलैण्ड के निवासी किसी समय एक दूसरे से लड़ा करते थे, अब मिल कर शांति से रहते हैं। इस तरह फ्राँसीसी और अंगरेज़ केनेडा मे, और अंगरेज़ और डच (हालैण्ड निवासी) दक्षिण अफ्रीका मे मिलकर रहते है। यदि ये लोग अपनी अपनी जाति की भक्ति में रहते तो शान्ति असम्भव हो जाती। पर इन्हे समझ आ गई है, इसी तरह दूसरे लोगों को आ सकती है।

कितने ही आदमी यह समझते हैं कि युद्ध से कई तरह के लाभ होते हैं। कुछ का ख़याल है कि युद्ध से, राष्ट्र की बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन की कमी पूरी होती है। परन्तु अगर सारे संसार का इकट्ठा हिसाब लगाया जाय तो इतनी पैदावार होती है कि लोगो के खाने पहनने के सामान मे कमी नहीं रहती। आजकल के औद्योगिक और वैज्ञानिक संसार की समस्या पैदावार की कमी नहीं है, बल्कि अत्यधिक पैदावार है, यानी बटवारे की कुव्यवस्था, मुद्रा-प्रणाली और विनिमय के साधनो का मेल बैठाने मे कठिनाई आदि। अपने अधीन बड़े बड़े प्रदेश रखने वाले इगलैन्ड जैसे राज्यो में भी ये समस्याएँ ऐसी ही जटिल हैं, जैसी स्वीडन, स्विटज़रलैण्ड और डेनमार्क जैसे छोटे छोटे प्रदेश रखने वाले राज्यों में। इससे ज़ाहिर है कि ये समस्याएँ युद्ध की विजय से हल नहीं होतीं, इनके वास्ते समझौते

और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की ज़रूरत है।

यह कहा जा सकता है कि आजकल मशीनो के द्वारा कारखानों मे माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होता है, उसे बेचने के लिए युद्ध ज़रूरी है। परन्तु इसमें कुछ सचाई नहीं। कोई भी राष्ट्र विजयी होने पर अपनी विजय का उपयोग अधिक माल बेचने मे किस तरह कर सकता है? सन १९१८ मे इगलैण्ड ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की थी। किन्तु उससे अगरेज़ कारखाने वालो की, अपना माल बेचने की, योग्यता बढ़ी नही; बल्कि और कम हो गयी। लड़ाई के बाद हर एक राष्ट्र की हालत पहले से ख़राब होती है। लाखो योग्य आदमियो के मरने या ज़ख्मी हो जाने से और बहुत सा धन खर्च हो चुकने के कारण उसे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का सामना करना पड़ता है। कितने ही पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं, उनके पास वैसी सामग्री पैदा करने के साधन नहीं रहते, जिसकी युद्ध के बाद लोगो को ज़रूरत होती है। उनका कारोबार चौपट हो जाता है। ऐसी हालत में किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति युद्ध का समर्थन करें तो कहना होगा कि उनमे जाने या अनजाने आत्महत्या का विचार काम कर रहा है। यह ठीक है कि युद्ध के समय सरकार लड़ाई का सामान बहुत खरीदती है, और जिन कारखानों में यह सामान तैयार होता है, उन्हें खूब आमदनी होती है; परन्तु इनकी बढ़ी हुई आमदनी का खासा हिस्सा सरकार टैक्स के रूप में ले लेती है, कुछ थोड़े से कारखाने वालो को ही विशेष नफा रहता है। इनेगिने लोगो के मालामाल हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि युद्ध पंजीपतियो के लिए लाभकारी होता है, या इससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है।

अगर किसी बड़े शहर में विकराल अग्निकांड हो जाय तो

कुछ पूँजीपतियों को उससे लाभ होगा; मकान बनाने का सामान तय्यार करने वाले सब उद्योग धंधो की धूम मच जायगी। इससे अग्निकांड को पूंजीपतियो का हितसाधक नहीं कहा जा सकता, फिर दूसरे आदमियो की तो बात ही क्या!

शस्त्रास्त्रो के बारे में भी लोगो मे बड़ी गलतफहमी या गैर-समझ फैली हुई है। कहा जाता है कि हथियारबन्द आदमी बलवान होता है। इस बात मे क्या सार है? जब कोई गृहस्थ केवल अपने ही बल पर निर्भर रहता है, तो ज्योंही कोई उससे ज्यादह जोर वाला हो जाता है, वह उसे पराजित कर देता है। अगर वह गृहस्थ (या राष्ट्र) किसी संगठित समाज का अंग होता है तो लुटेरे या आक्रमणकारी को केवल एक व्यक्ति की ही शक्ति का सामना नही करना पड़ता, बल्कि सारे समाज का सामना करना पड़ता है, और हर व्यक्ति अधिक सुरक्षित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति मे हमे इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए, और इसी सिद्धान्त का उपयोग करना चाहिए।

कुछ आदमी कहा करते हैं कि हथियार रक्षा के लिए होते हैं। परन्तु सब जानते हैं कि अब तक हथियारो ने यह उद्देश्य पूरा नहीं किया। उन्होने उन लाखो आदमियो की, रक्षा नहीं की, जो युद्ध मे मारे गये; न उन्हीं लाखो आदमियों की, जो युद्ध मे जख्मी और अगहीन हुए; न उस व्यापार और समृद्धि की ही रक्षा की, जो नष्ट हो गयी; न उस लोकतंत्र की रक्षा की, जिसके न होने से जगह जगह तानाशाहो (डिक्टेटरो) की महामारी फैली हुई है; न जनता की सैनिकवाद से ही रक्षा की, जो पिछले महायुद्ध की अपेक्षा अब अधिक निर्दयतापूर्ण है; और न राजनैतिक निर्भयता की ही रक्षा की, क्योंकि वह अब पहले से भी अधिक संकट मे है।

क्या शान्ति के लिए हथियार ज़रूरी है ? यदि सब राष्ट्र शस्त्रों का परित्याग करदें तो युद्ध की समस्या ही हल हो जाय। सृष्टि के अब तक के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि शस्त्रास्त्रों के उपयोग से शान्ति कायम नहीं होती। अब शस्त्र-परित्याग के विषय में गम्भीरता से क्यों न सोचा जाय ? अगर हम सचमुच शान्ति चाहते हैं तो उसके लिए हम उचित कीमत देने से—शस्त्र-परित्याग से—क्यों इनकार करें।

महात्मा गांधी के ये शब्द (जो उन्होंने भारत के जंगी लाट की इस बात का विरोध करते हुए कहे थे कि 'भारतवर्ष फौजी मुल्क है') भली भांति विचार करने योग्य है—"पोलैण्ड की असदिग्ध सैनिक वीरता, उससे बढ़ कर जर्मनी और रूस की सेनाओं के सामने क्या काम आयी ? अगर इन सम्मिलित शक्तियों की चुनौती का सामना, बदले की भावना बगैर, मृत्यु के मुख में जाने के निश्चय के साथ किया जाता तो क्या निशस्त्र पोलैण्ड की इससे बुरी हालत होती ? क्या आक्रमणकारी शक्तियाँ उस पोलैण्ड का, जो कि इसकी अपेक्षा निश्चय ही अधिक शूरवीर होता, इससे ज्यादह सर्वनाश करतीं ? बहुत सम्भव तो यह है कि निर्दोष व्यक्तियों की हत्या होते देख आक्रमणकारी शक्तियों की मूलभूत मानव भावना जाग उठती, और वे उनका कत्लेआम करने से रुक जातीं।"

अहिन्सा के विषय में विशेष विचार एक अलग अध्याय में किया जायगा।

तीसरा खंड

कहाँ पहुँचना है ?

बीसवाँ अध्याय

हमारा लक्ष्य

यह जहाज़ कौन से देश को जायगा ?
उसके सभी यात्री जानते हैं कि वह देश दूर बहुत दूर है।
वह कौन से देश से यात्रा करके आ रहा है ?
वे केवल यही कह सकते हैं कि वह भी यहाँ से बहुत दूर है।

—०—

नगर-राज्य और राष्ट्र-राज्य सब भावी विश्व-राज्य में बाक़ायदा घुल मिल जायँगे। मनुष्य जाति सदा ही पचास या अधिक राज्यों में बँटी नही रहेगी। वह ससार भर में एक राजनैतिक सगठन के रूप में संगठित होगी। हमारा उद्देश्य एक राज्य, एक झंडा, एक भाषा, एक नीति, एक आदर्श, एक प्रेम, और एक जीवन है। —*लाला हरदयाल*

आदमी बहुत समय से अपने विकास की यात्रा तय करता आ रहा है। पिछले पन्नो में हमने देखा कि कौन कौनसी मजिलें तय हो चुकी हैं, और अब हम किस स्थान पर आ पहुँचे है। एक खास बात जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाता है, वह यह है कि हमारी यात्रा अभी बाकी है। यदि हम पीछे की ओर निगाह डालें तो मालूम होता है कि वह स्थान बहुत दूर रह गया

है, जहाँ से हम रवाना हुए थे, हम बहुत आगे बढ़ आये है, हमने बहुत तरक्की की है. और हम अपनी प्रगति पर गर्व कर सकते हैं। परन्तु यदि हम सामने देखें, और विचार करें कि हमे कहाँ पहुँचना है तो हमें मालूम होगा कि हम अभी अपने लक्ष्य स्थान से बहुत दूर है। जिस जगह हम अब आ पहुँचे हैं, यहाँ ठहरना असह्य है। हमे जल्दी से जल्दी आगे बढ़ना है। आगे बढ़े बिना हमे शान्ति नही मिल सकती। हमे आगे बढ़ना ही होगा—इसमें चाहे जितना कष्ट सहना पड़े और चाहे जो बाधाएँ सामने आवें।

हम यह भी नहीं भुला सकते कि हमारे रास्ते मे एक नहीं, कई एक बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं। उन्हे दूर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ और हिम्मत की ज़रूरत है। किन्तु जब हम यात्रा पर चल पड़े हैं, और हमने इतनी यात्रा तय कर ली है. तो अब कुछ विघ्नो के भय से हम अपनी बाकी यात्रा स्थगित नहीं कर सकते। हमने कमर कस ली है, और हम उस बाकी यात्रा को भी पूरा करके रहेगे। साफ बात तो यह है कि यात्रा हमें पूरी करनी ही पड़ेगी, चाहे हम राज़ी से करें या नाराज़ी से। और, बेहतर यही है कि हम हँसी खुशी, प्रेम से और लगन से अपनी आगे की यात्रा तय करें।

अच्छा, हमें कहाँ पहुँचना है? हमें किस तरह की सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक स्थिति हासिल करनी है? जिस विश्व-राज्य की हम बात करते हैं, वह कैसा है?

हमारी हालत उस आदमी की सी है जो किसी तीर्थ-स्थान की यात्रा के लिए चल रहा है। अभी तीर्थ-स्थान कुछ दूर है। रास्ते मे कुछ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं; कहीं-कही कोई पहाड़ी टीला भी है। इनकी आड़ होने के कारण तीर्थ-स्थान अच्छी तरह

नज़र नहीं आता। कभी-कभी तो सड़क का मोड़ आजाने से तीर्थ-स्थान का दिखायी देनेवाला हिस्सा पहले से भी कम रह जाता है। कही कहीं रास्ते मे नदी नाले के कारण कुछ घूम कर जाना पड़ता है, अथवा ककरीली जमीन या कांटे आदि आजाने की वजह से रास्ता चलना कठिन हो जाता है, चाल धीमी पड़ जाती है। परन्तु ऐसी बातो से श्रद्धालु यात्री निराश नही होता। उसने यात्रा शुरू कर दी है, वह तीर्थ तक पहुँच कर ही रहेगा।

मानव समाज भी अपनी इस महान यात्रा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा किये हुए है। उसे विश्व-राज्य मे पहुँचना है। कभी कभी विश्व-राज्य कुछ ओझल हो जाता है; कभी कभी बहुत समय तक यात्रा करने के बाद मालूम होता है कि रास्ता बहुत कम तय हुआ है, हम विश्व-राज्य के कुछ भी नजदीक नहीं पहुँच पाये हैं; वह उतनी ही दूर मालूम होता है, जितनी दूर पहले था। यही नही, मालूम होता है कि वह और ज्यादह दूर हो गया है। पर इन बातो से घबराने की ज़रूरत नहीं। हमे चिन्ता या फिक्र करने का अवकाश ही न होना चाहिए। हमारा कर्तव्य तो आगे चलते रहना ही है। हम इस डर को भी मन मे न लावें कि हम शायद अपने लक्ष्य स्थान तक न पहुँच पावें, बीच में ही हमारी शक्ति समाप्त हो जाय। यदि ऐसा ही हो तो भी कुछ फिक्र की बात नही। हमारे चलने से, हमारे पाँव पड़ने से यदि रास्ते की ऊँची नीची मिट्टी कुछ हमवार हो जाती है, कांटे और कंकर कुछ दब जाते हैं, रास्ता कुछ सुगम हो जाता है, हमारे पीछे आने वालों के लिए कुछ आसानी हो जाती है, तो यह कुछ कम बात नहीं है। अगर हमारे साहस या पुरुषार्थ को देखकर हमारे उत्तराधिकारियों के मन में साहस और पुरुषार्थ आजाय तो हम अपने परिश्रम को

सफल मानेंगे। यदि हमारा भौतिक शरीर रास्ते के गड्ढों और खाइयों को भरने मे काम आ सके तो इससे अच्छी और क्या बात। बस! प्यारे साथियो? बढ़े चलो, रास्ते के कङ्करो, पत्थरों और कांटों को कुचलते हुए चले चलो। मित्रो! चले चलो।

विश्व-राज्य को अग्रदूतो की आवश्यकता है। एक अग्रदूत होने का सौभाग्य हम प्राप्त करें। चाहे हम इस समय किसी राष्ट्र-राज्य के ही रहने वाले हो, पर हमारे मन मे भावना विश्व-राज्य की ही हो। जाति, राष्ट्र, देश, धर्म मजहब, सम्प्रदाय और वर्ग आदि का भेद भाव छोड़कर हम सब से प्रेम करें, सब का स्वागत करें, सब का भला चाहें, सब के साथ अच्छा व्यवहार करें; हम पूँजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की दूषित संस्थाओ का समर्थन न करें, इन से बचें। आजकल की पद्धति का समर्थन करने वाली व्यवस्थापक सभाओ, दलो, पार्टियो, अदालतो, सेनाओ और सम्प्रदायों मे हम भाग न लें। जहाँ तक हमारा अपने आप से सम्बन्ध है, हम अपने को विश्व-राज्य का नागरिक समझें; सोते, जागते, चलते फिरते, खाते पीते, हम विश्व-राज्य का चिन्तन करें और उसके आगमन की प्रतीक्षा करें। प्रभात काल का सूर्य अभी क्षितिज से नीचे है, अभी हम उसका दर्शन नहीं कर सकते, परन्तु उषा उसकी सूचना दे रही है। हम उषा की आराधना करने वाले भी होंगे, तो हमारी संतान, या उस संतान की संतान, अवश्य सूर्य के दर्शन से कृतार्थ होगी—वह सूर्य जो इस अखंड और अविभाज्य विश्व-राज्य को अलोकित करेगा और समस्त मानव जाति को सुख शान्ति और समृद्धि प्रदान करेगा।

हमारे कुछ भाई अधीर होकर कह रहे है, "तुम जिस विश्व-राज्य की बात करते हो, वह कैसा है, उसका आकार

प्रकार किस तरह का होगा, उसके नियम कायदे कैसे होंगे, वहाँ की व्यवस्था, शासन पद्धति और न्याय प्रणाली किस ढङ्ग की होगी ?" इस तरह के सवालो का ठीक ठीक और ब्यौरेवार जवाब देना कठिन है। यह भी कह सकते हैं कि इसका अभी समय नहीं आया है। विश्व-राज्य हमसे कुछ फासले पर है, इसलिए हम उसका पूरा चित्र नहीं खैंच सकते।

हमारी हालत उन लोगो की सी है, जिन्होने अब से कई सदियो पहले संसार का नक़शा बनाया था, उन्होने अपनी तरफ से मेहनत करने में कुछ कसर बाकी न रखी थी, तो भी उन बेचारो को संसार के अनेक भागों का पता न था। कई जगह जहाँ उन्होंने समुद्र समझा था, पीछे जमीन का होना मालूम हुआ। उन पुराने नक़शो से यह तो पता चला कि अमुक देश हमारे देश से किस दिशा मे है, उत्तर मे है, या उत्तर-पूरबया उत्तर पच्छिम में। परन्तु वह निश्चित रूप से मालूम नहीं होता था कि वह देश कितने फासले पर है, या उसकी सीमाएँ या शक्ल कैसी है। वे नक़शे बिल्कुल अधूरे थे! आजकल का पाठक उन्हे देखकर उनके बनाने वालो का मजाक उड़ायेगा। तो भी उन नक़शों ने अपने ज़माने में बड़ा काम दिया! उन से लोगो को जब यह मालूम हुआ कि अमुक देश हमसे इस दिशा में है तो इस आधार पर कुछ खोज करने वालो ने यात्रा की और उस देश का पता लगाया, उसका फासला और उस की ठीक टीक सीमा का हिसाब लगाया। इसके बाद जो नक़शे बने, उनमें पहले से ज्यादह जानकारी दी गयी। इसी तरह पीछे आने वाले अपने पूर्वजों के बनाये हुए नक़शों में सुधार करते रहे, और इसी का यह नतीजा है कि अब दुनिया भर का करीब करीब ठीक ठीक नक़शा हमारे सामने है।

यही बात विश्व-राज्य के बारे मे है। आज का लेखक कुछ मोटी मोटी बातो का ही अन्दाज़ कर सकता है। उससे ज़्यादह आशा न करो; जो कुछ वह कह सकता है, उसे कह लेने दो। उसकी बातों में सुधार संशोधन की बहुत ज़रूरत है, इसमे सन्देह ही क्या है। पर यह काम तो धीरे धीरे होता रहेगा, आगे आने वाले बुद्धिमान लेखक अपने ज्ञान और तजरुबे से नये और ब्यौरेवार ग्रन्थो की रचना करेंगे, और इस समय की कृतियों को शायद संग्रहालय या अजायब घर में रखने के योग्य भी न समझेंगे। जो हो, कुछ तो इसलिये कि हम विश्व-राज्य से दूर है, और कुछ इसलिये भी कि हमारी योग्यता बहुत कम है, हम विश्व-राज्य का ब्यौरेवार वर्णन नहीं कर सकते। हम उसकी कुछ मोटी मोटी बातों का, उसकी धुधली सी रूप रेखा का ही विचार करेंगे। हमें ख़ास ज़ोर इसी बात पर देना है कि हम उसके लिये क्या कर सकते है, हमें क्या करना चाहिए, और मानव समाज के उस भावी संगठन के लिए हमे कैसा बनना चाहिए।

इक्कीसवाँ अध्याय

मानव जाति की एकता

यह पृथ्वी माता है, मै इसका पुत्र हूँ। —अथर्ववेद

जिस तरह कोई हवाई जहाज़ चलाने वाला ज़मीन से बहुत ऊंचा उठता है, और तमाम जमीन को एक निगाह मे देख लेता है, उसी तरह हमें जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की रुकावटों और बन्धनों से

ऊपर घटना चाहिये और सब आदमियों, औरतों और बच्चों को प्रेम भरी निगाह से देखना चाहिए। कोई भी हमारे प्रेमी हृदय से बाहर न रहे। —*हरदयाल*

संसार में केवल एक ही जाति है, और वह है मानव जाति। —*रवीन्द्र*

मैं एक मनुष्य हूँ, और मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से मेरी सह-जातीयता है। कोई माता पिता के समान मुझसे स्नेह करता है। किसी को मैं भाई बहिन या मित्र मानता हूँ। कोई मेरे मोहल्ले, गांव, नगर या देश का होने के कारण मुझे प्यारा है। किसी को मैं निकट सम्बन्धी मानता हूँ, किसी को दूर का। किसी से मेरा घनिष्ठ सबंध है, और किसी से बहुत कम। मालूम होता है कि जीवन का कोई न कोई तार मुझ में और दूसरों में समान रूप से पिरोया हुआ है। यदि किसी दूसरे को कुछ कष्ट होता है तो थोड़ी बहुत चोट मेरे हृदय पर भी लगती है। जो जो बातें उसे अप्रिय लगती हैं, उनमें से अधिकांश को मैं अपने लिए भी अच्छा नहीं मानता। शेक्सपीयर का शाइलक हमारी भावना को अच्छी तरह प्रकट कर रहा है।

जब शाइलक को यहूदी और सूदखोर कह कर उससे घृणा दिखाई गयी तो वह कैसी भावपूर्ण बात कहता है—'मैं यहूदी हूँ! क्या यहूदी के आँखें नहीं होतीं? क्या यहूदी के हाथ, पैर, नाक, कान, अंग, आकार, प्रेम और वासनाएँ नहीं होतीं? जिस भोजन से ईसाई पलता है, उसी से यहूदी पलता है। जिन हथियारों से ईसाई को चोट लगती है, उनसे यहूदी को भी चोट लगती है। यहूदी को भी वे ही बीमारी लग सकती हैं, उसे उन्हीं चीजों से आराम मिलता है, उसे भी

सर्दी में ठंड लगती है, और गरमी की मौसम में गरमी मालूम होती है, ठीक उसी तरह जैसे किसी ईसाई को। अगर तुम सूई चुभोओ तो क्या हमारे शरीर से खून नहीं निकलता ? यदि तुम गुदगुदी करो क्या हमे हंसी नहीं आती ? अगर तुम हमें ज़हर दे दो तो क्या हम मरगे नहीं !'

जब किसी आदमी के मन में किसी दूसरी जाति या धर्म वाले को नुकसान पहुँचाने या तकलीफ देने का विचार आवे तो उसे शाइलक की ऊपर कही हुई बात याद कर लेनी चाहिए।

इस पृथ्वी पर सवा दो सौ करोड़ आदमियो का निवास है। जब मै एक परम पिता परमात्मा को मानता हूँ और सब मनुष्यो को उसकी संतान कहता हूँ तो हर व्यक्ति, वह चाहे जहाँ रहने वाला, और चाहे जिस जाति या रंग का हो, मेरा भाई या बहिन है। इस नाते से मेरा उसके प्रति अवश्य कुछ न कुछ कर्तव्य है। यह भी सम्भव है कि ब्रह्मांड में हमारी पृथ्वी जैसी और भी अनेक पृथ्वियाँ हों, परन्तु उनके विषय में हमें कुछ मालूम नहीं है; इसलिए उनके सम्बन्ध में हम अपने कर्तव्य से भी बरी हैं।

'धरती माता' हमारी बोलचाल का शब्द है। हम धरती (पृथ्वी) को माता मानते हैं। हम उसे वन्दना करते है। उसने हमें जन्म दिया है, उसके दिये हुए पदार्थों से हमारा पालन-पोषण और रक्षण होता है। इस माता की गोद में हम खेले हैं, और इसके संरक्षण मे रह कर हम अपनी जीवन-लीला पूरी करते हैं। हमारे मरने पर यही हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देती है। हम सब इस पृथ्वी माता की संतान हैं; बालक हो, या जवान या बूढ़ा, पुरुष हो या स्त्री, काला हो या गोरा, माता सब की माता ही है। उसकी सब सन्तान बराबर हैं।

वह सब की मातृभूमि है।

मानव जाति एक है। सब पुरुष और स्त्रियाँ वास्तव में एक ही जाति के है। सब एक ही ढंग से पैदा होते हैं। इस कसौटी पर एक देश के आदमी दूसरे देश के आदमियों से जुदा नहीं हैं। अमरीका मे काले दासों के गोरे स्वामियों ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि हबशी लोग असल में मनुष्य जाति के नहीं हैं, उ हें किसी दूसरी जाति का समझना चाहिए, और मनुष्यो से नीची श्रेणी का यानी उप-मानव कहना चाहिए। उनका यह दावा, जो उनके अहंकार और लोभ से पैदा हुआ था, ठहर न सका। शारीरिक गठन और जीवन-विज्ञान दोनों की दृष्टि से पांचों महाद्वीपों के सब पुरुषों और स्त्रियों में कोई फरक नहीं है। शरीर-शास्त्र के आधार पर मानव जाति की एकता से कोई इनकार नहीं कर सकता, किसी को इसमें सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं।

सब आदमी, यहाँ तक कि जंगलों, पहाड़ों, और बर्फ के मैदानो में रहने वाले भी, बोल सकते है। बोलना मनुष्य मात्र पर लगी हुई एक छाप है। सब आदमी और औरतें किसी न किसी तरह के औज़ारों को काम में लाती हैं। सब में थोड़ा बहुत सोचने का गुण है। सब कुदरती आफतो और रुकावटों से बच निकलने की ही कोशिश नहीं करते, बल्कि उन रुकावटों पर विजय पाने का भी प्रयत्न करते है।

चाहे जितना कम या चाहे जितना ज्यादह, सब आदमी गिन सकते है, विचार कर सकते हैं, अनुमान कर सकते है, नतीजा निकाल सकते हैं, और उद्देश्य-सिद्धि के लिए साधनों का उपयोग कर सकते हैं। सब किसी न किसी तरह के समूह में रहते हैं; सब अपने परिवार वालो से—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री,

बच्चो से स्नेह करते हैं। सब आदमी और सब औरतें ब्रह्मांड के सम्बन्ध में कुछ न कुछ दार्शनिक विचार रखते हैं—यह कैसे पैदा हुआ, कौन इसका पैदा करने और रक्षा करने वाला है, इसका क्या उद्देश्य है। सब लोगों के जीवन में किसी न किसी तरह का क्रम पाया जाता है; वे सब, कुछ नियमो का पालन करते हैं; सब के कुछ रीति रिवाज, नेगचार, दस्तूर होते हैं। सब अपने समूह सम्बन्धी कुछ बातों की याद रखते हैं, भूत-काल का विचार करते हैं, और कुछ परम्पराओं को मान देते हैं। सब की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है।* सब अपनी संतान के हित का विचार करते हैं, और उसके लिए जहाँ तक हो सकता है, इन्तज़ाम करते हैं।

मैं एक मनुष्य हूँ। और, मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा दो बातें अधिक विकसित रूप में होती हैं—(१) सोच विचार, बुद्धि, विवेक, या मस्तिष्क का कार्य, और (२) मिल जुलकर रहना, संगठित होना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम, या हृदय का कार्य। ये बातें संसार के सभी आदमियो में पायी जाती हैं। मुझे गर्व करना चाहिए कि इन गुणों को रखने के कारण मैं मानव जाति का सदस्य हूँ। हर व्यक्ति को यह भली भाँति अनुभव करना चाहिए कि वह मानव जाति का सदस्य है। उसका एक अंग है। सब पृथ्वी माता की संतान हैं।

---

* कितने ही आदमी तो भावी सुख के लिए वर्तमान काल मे अनेक कष्ट सहने को भी तत्पर रहते हैं। अनेक आदमी अपनी इस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भावी आवश्यकताओं के लिए द्रव्य संचय करते हैं। भारतवर्ष आदि देशों में अगले जन्म तक की चिन्ता की जाती है।

मानव जाति की एकता एक गहरी सचाई है। दुर्भाग्य से यह बात बाहरी निगाह से मान्य नहीं की जा सकती, कारण यह है कि मानव जाति में एकरूपता नहीं है, मनुष्यों में आन्तरिक एकता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ हैं। इन विभिन्नताओं ने मानव जाति की तात्विक एकता को छिपा रखा है। यहाँ तक कि इन्होंने एक दूसरे से घृणा और युद्ध को जन्म दे दिया है। हमें इन ऊपरी भेद-भावों से सतर्क रहना चाहिए; ऐसा न हो कि इनके कारण हम पृथ्वी भर के देशों के आदमियों, औरतों और बच्चों के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को कम कर दें। भेद-भाव पैदा करने वाली बातों में दो मुख्य हैं:—(क) जाति, और वर्ण या रंग और (ख) भाषा और राष्ट्रीयता। इनके विषय में अन्यत्र विचार किया जा चुका है। इन भेदों का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी के अनेक भाग एक दूसरे से बहुत दूर हैं। एक जगह के आदमी को दूसरी जगह के आदमी के पास जाने आने में बहुत समय लगता है—और बड़ी कठिनाई होती है। इसीलिए दूर दूर के आदमियो में मिलना-जुलना और विचार-विनिमय बहुत कम हो पाता है। इस तरह दूरी और समय की बाधाओ ने मानव जाति को अलग अलग या जुदा-जुदा मालूम होने वाले टुकड़ों में बाँट रखा है।

मनुष्य चिरकाल से समय और दूरी का बंधन हटाने की कोशिश कर रहा है। उन्नति करते करते अब नई नई वैज्ञानिक ईजादों और यंत्रों की सहायता से उसने इसमें बहुत कुछ कामयाबी हासिल कर ली है, और आगे के लिए उसका मार्ग और भी अधिक साफ हो गया है। पण्डित श्यामविहारी दुबे

लिखते हैं कि "टेलीविज़न (दूर के चित्रो को पर्दे पर दिखाने) के आविष्कार के बाद मनुष्य दूर से दूर और कम से कम समय मे देखने, सुनने, सूंघने, छूने, बोलने, स्वाद लेने आदि के अनुभव करने की ओर है। और, यही बातें समाज की व्यवस्था को बदल देंगी। राजनैतिक स्थिति मे भी अतर हो जायगा। भविष्य के युग में मनुष्य एक यंत्र को अपने सामने रखकर संसार के दूसरे छोर ही नहीं वरन् दूर आकाश में ठहरे हुए ग्रहों के प्राणियो से सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। अपने शब्दों को दूर देश के व्यक्ति को सुना सकेगा, उसे स्वयं देख सकेगा, उसके स्वांस-प्रस्वांसों का अनुभव करेगा, उसके शरीर पर लगी हुई सुगन्ध का अनुभव करेगा, स्पर्श-अनुभव जैसे चुंबन और आलिङ्गन का भी अनुभव उतना ही सरल हो जायगा जितना प्रत्यक्ष बैठे हुए व्यक्ति के साथ होता है।"*

इन सब बातों का मनुष्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ेगा, उस से यहाँ प्रयोजन नहीं। हमारे विचार करने का मुख्य विषय यह है कि विश्व-राज्य के निर्माण में ये बातें कहाँ तक सहायक होंगी। बहुत बड़े राज्यो के निर्माण में एक बड़ी बाधा समय और दूरी की रही है, ज्यों ज्यों यह समस्या हल होती गई है, बड़े बड़े राज्यों के कार्य संचालन की असुविधाएँ घटती जाती हैं। इस समस्या को हल करने में विज्ञान ने अनेक रूपों में सहायता की। हम यहाँ केवल इस बात पर विचार करेंगे कि खास-कर हवाई जहाज़ इसमें कहां तक भाग लेने वाला है। इससे पाठक विचार कर सकेंगे कि विज्ञान के सब यंत्रों का असर मिलकर कितना ज्यादह होगा।

---

*अप्रकाशित 'त्रिकाल दर्शन' के, 'शुभचिन्तक' में उद्धृत अंश से।

अनुमान किया जाता है* कि अब से बीस तीस वर्ष बाद हवा से सफर करने की सुविधा उसी तरह सब लोगों को मिल जायगी, जिस तरह आज रेल और जहाज़ की सुविधा सब को मिली हुई है। हवाई जहाजों की मामूली चाल ४०० मील फी घंटा होगी, तब दुनिया का कोई कोना किसी के लिये २४ घंटे की यात्रा से ज़्यादह का नहीं रह जायगा। आदमी दूरी और समय के बंधनो से आज़ाद हो जायगा। संसार उस समय सिमट कर बहुत छोटा हो जायगा। सदियों तक आदमी जमीन पर दौड़ते हुए घोड़े की चाल से, और पानी पर बादबानी किश्तियो की चाल से, यात्रा करता रहा है। इसके बाद रेलों, मोटर गाडियों, और भाप से चलने वाले जहाजों का युग आया, और, आदमी की चाल पहले से तिगुनी हो गयी। आदमी स्वभाव से ही दूरी को, यात्रा में लगने वाले समय से मापता है। इस तरह हम कह सकते है कि आदमी के लिए नया संसार पहले की निस्बत एक तिहाई रह गया। आज कल हम ज़मीन पर ४० मील फी घंटा और समुद्र पर २० मील फी घटा के हिसाब से दूरी की माप करने के आदी हो गये हैं, और ससार के सम्बन्ध मे हमारी धारणा भी इसी माप पर बनी है।

हम कलकत्ते के सम्बन्ध में यह नहीं सोचते कि वह बम्बई से १,१०० मील दूर है, पर यह सोचते है कि बम्बई से ४० घंटे की यात्रा है। इसी तरह पूना के लिये हम यह नहीं सोचते कि वह ७५ मील दूर है, बल्कि यह सोचते हैं कि ३ घटे का रास्ता है। पर जब हम कलकत्ते भी उतनी देर में पहुँचने लगेंगे जितनी

*श्री० जे. आर. डी. टाटा के बाम्बे रोटरी क्लब के, सन १६४३ के भाषण से।

देर में इस समय बम्बई से पूना पहुँचते है, जब हम काहिरा भी उतनी ही जल्दी पहुँचने लगेंगे जितनी जल्दी अहमदाबाद पहुँचते है, जब हमे न्युयार्क पहुँचने में भी उतना समय लगेगा जितना मदरास जाने में लगता है, तब दूरी के लिहाज में कलकत्ता वहाँ आ जायगा; जहाँ आज पूना है, लन्दन दिल्ली की जगह पर आ जायगा, काहिरा अहमदाबाद के स्थान पर, और न्यूयार्क मदरास के स्थान पर आ जायगा। इसके यही मानी निकलते हैं कि उस समय ससार आजकल की निस्बत १५ गुना छोटा हो जायगा।

इस तरह दुनिया के सिमट कर छोटी हो जाने से और जीवन के रहन सहन का मान बढ़ जाने से, मुझे आशा है, यात्रा करना भी बहुत बढ़ जायगा। इससे केवल तिजारत और उद्योग धन्धों की समृद्धि ही नहीं होगी, बल्कि संसार के लोगों को दूसरे देश देखने और वहाँ के निवासियो को समझाने-बुझाने का भी मौका मिलेगा। हम विदेशियों से इसीलिये घृणा करते हैं कि हमारी उनके बारे मे जानकारी बहुत कम है, और इसके फल-स्वरूप यह धारणा बध जाती है कि वे हम से अलग हैं। हवाई जहाजों के युग में जब हज़ारों मील की दूरी पर रहने वाले लोग एक-दूसरे से मिलने-जुलने लगेंगे तो अविश्वास और संघर्ष की भावना अपने आप हट जायगी। इसके साथ ही जीवनका दृष्टिकोण और रहन-सहन का भेद-भाव भी अपने आप मिटने लगेगा। राजनैतिक सीमाएँ टूटती हुई नज़र आएगी, पासपोर्ट और सिक्के की रोक लोगो को असह्य हो जायँगी और मन की गाँठें खुल जाने से अपने-आप धीरे धीरे एक मिली जुली विश्व-सस्कृति का विकास होगा। इसलिए हवाई जहाजो के युग का मुख्य नतीजा यह होगा कि ससार के लोग एक दूसरे के पड़ोसी

हो जायँगे, और मन बचन और काम से एक दूसरे के नजदीक आ जाँयगे।

यह ठीक है कि दूसरी चीजों की तरह हवाई जहाजों का दुरुपयोग हो सकता है, और इस समय युद्धो मे हो ही रहा है। बात यह है कि इस समय विज्ञान साम्राज्यवाद का दास है, इसलिये संहार में सहायक हो रहा है। साम्राज्यवाद का अंत होने पर ऐसा न रहेगा। अब भी विज्ञान आदमी को अपने हजारो कोस की दूरी पर रहने वाले भाई से मिलाने मे मददगार हो रहा है, काले पीले और गोरो को, यहूदी ईसाई, मुसलिम और पार्सी को एक दूसरे के साथ मिला रहा है। किन्तु इस समय यह मिलन कभी दो या अधिक वर्गो मे दोनो के हित के के लिए होता है, और कभी बलवान द्वारा निबल के शोषण के लिए। निदान, विज्ञान का उपयोग मानवता या मानव प्रेम की वृद्धि के लिए भी हो सकता है, और होता है। जरूरत है कि आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति को अपना संहार करने में न लगावें।

जाहिर है कि दूरी की समस्या जितनी अधिक होती है, उतना ही संगठन छोटे छोटे दायरो मे रहने वालों का अधिक होता है। ज्यो ज्यों मेल जोल या आने जाने के साधनों की वृद्धि होती है, दूर दूर के आदमियो का सगठन सुगम होता जाता है। पुराने जमाने में मनुष्यों का संगठन छोटे छोटे समूहों में था, धीरे-धीरे दूर दूर के आदमियो का मिलना और आपसी सम्बन्ध बढ़ा। उसी के अनुकूल धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमो की रचना बड़े-बड़े समूहो के हित के लिए की जाने लगी। विज्ञान समय और दूरी के बन्धन को काट कर मनुष्य-जाति की एकता और विश्व-राज्य के निर्माण का रास्ता साफ करता जा रहा है।

बाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की ज़रूरत

मनुष्य क्रमशः गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महाव्यूह मे आया। अब वहाँ से वह सार्वभौमिक बनना चाहता है—हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्व-नागरिक बनना या विश्वात्मा मे लीन होना चाहता है। उपर्युक्त कुल सीढ़ियों को लाँघ कर इस उद्देश्य की सिद्धि करना मानव समाज का परम धर्म और कर्तव्य है। —*अभ्युदय*

मानव जाति के इतिहास में विश्व-राज्य की एक निश्चित, किन्तु कुछ बिखरी हुई सूचना है। पहले मनुष्यो की व्यक्तिगत सत्ता न थी; सब अधिकार बड़ो या बुजुर्गो का होता था—बड़ा कभी घर का बूढ़ा और कभी समाज, जाति या धर्म का नेता होता था। धीरे धीरे केवल बड़े बूढ़ो की हकूमत हट कर मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता भी मानी जाने लगी। उसका संगठन शुरू हुआ। मनुष्य की ज़रूरतो और उसकी अन्दर की प्रेरणाओ ने मिलकर व्यक्तियो का परिवार बनाया, परिवारो के वंश बनाये, वंशों से कबीले या कुल बने, कुलो का राष्ट्र बना, और राष्ट्रो का साम्राज्य या संघ-राज्य। साम्राज्यो का रूप अब बहुत हानिकर हो गया है। जनता अब संघ-राज्यों से बड़ी बड़ी आशाएँ कर रही हैं। पर क्या संसार में कई संघ-राज्यों का होना हितकर

होगा ? मनुष्य चिरकाल से संगठन करता आ रहा है। यह संगठन का काम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सब संसार के आदमियों का एक संगठन इतना विशाल न हो जाय कि उसमे सारी मानव जाति समा जाय, कोई भी हिस्सा उससे बाहर न रहे।

जिन कारणों से व्यक्ति से परिवार और परिवार से धीरे धीरे वंश, कबीला, जाति. राष्ट्र और साम्राज्य बने, वे कारण अब भी मौजूद हैं। इसलिए यह नतीजा बिल्कुल तर्क सगत है कि साम्राज्य से आगे बढ़ना अनिवार्य है। मनुष्य ने अपने उत्थान में जो सीढ़ियाँ पार की हैं, उनमें दो परस्पर विरोधी कारणों का पता चलता है। मनुष्य में प्रेम की भावना है, और जब प्रेम का क्षेत्र सीमित रहता है, तो वह उस क्षेत्र के बाहर के लोगों से लड़ाई झगड़ा करता है। जब परिवार बना तो परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हुए। पुरुष स्त्री से, और स्त्री पुरुष से, और दोनों अपनी संतान से खूब प्यार करते हैं, यहाँ तक कि वे इसमें किसी दूसरे प्रतिद्वन्दी का होना सहन नहीं कर सकते। पुरुष और स्त्री की यह खुली चुनौती रहती है कि जितना प्यार हम एक दूसरे से और अपनी संतान से करते हैं, उससे ज्यादह कोई भी दूसरा नहीं कर सकता, परन्तु इनके प्रेम का क्षेत्र सीमित था, ये अपने परिवार से बाहर के व्यक्तियों से लड़े झगड़े। एक परिवार दूसरे परिवारों से लड़ा। जब इन परिवारों की एक जाति बनी तो परिवारों के आपसी युद्ध का अन्त हुआ। एक जाति के अन्तर्गत परिवारों ने आपस में प्रेम और सहयोग से रहना सीख लिया। परन्तु पुराने संस्कारो के कारण एक जाति दूसरी जाति से लड़ती रही। धीरे धीरे पास रहने

वाली, और एक दूसरे से लड़ने वाली जातियो ने देखा कि आपस में मेल किये बिना गुजर नहीं, इस पर वे आपस मे दूध और चीनी की तरह ऐसी मिल गयीं कि देखने वाले के लिए वह मिश्रण या मिलावट न मालूम होकर एक ही चीज हो गयी। एक कौम या राष्ट्र के अन्दर जितने व्यक्ति, परिवार या जितनी जातियां होती है, वे सब अपनी अलहदगी को और पुराने झगड़ो को भुला देती हैं; और एक दूसरे की भलाई के लिए भारी कुर्बानी या त्याग करने लगती और तरह तरह की तकलीफें उठाने को तैयार रहती हैं। उनमे से एक का दुख सब का दुख होता है, और एक के सुख में सब सुखी होते है।

सामाजिक संगठन और आगे बढ़ता गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो के सम्पर्क में आया; कुछ राष्ट्र यदि मित्रता या स्नेहवश आपस में मिले, तो अनेक बार एक राष्ट्र की स्वार्थपरता ने उसे दूर दूर तक नजर दौड़ाने और जिस प्रदेश पर उसका वश चले, उसे हथियाने को मजबूर किया। यह काम चुपचाप शान्ति के साथ नहीं हो गया। बुरे भले सभी तरीके काम में लाये गये। साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी उपाय को उठा नही रखा गया। लड़ाई झगड़े हुए, खून खच्चर हुआ, महीनों या वर्षों ही नहीं, कहीं कहीं सदियों के हिन्सा-कांड के बाद राष्ट्रों ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाया। राष्ट्रो ने जो साम्राज्य-निर्माण की तरफ कदम बढ़ाया, उसमें मानव प्रगति की पहली मंजिलो की तरह बल्कि उनसे भी बढ़ कर लड़ाई-झगड़ो की सीढ़ियाँ पार की गयी हैं। फिर भी इन सब लड़ाई झगड़ों में मनुष्य की उन्नति का तत्व छिपा रहा है।

समाज-संगठन में बढ़ते बढ़ते हम साम्राज्य तक आये। पर आज कल के साम्राज्य अपने अधीन देशों का शोषण करते है

और एक दूसरे से ईर्षा करते और लड़ते झगड़ते हैं। उनके आपसी महायुद्ध हमे चेतावनी दे रहे हैं कि इस समय की विश्व-व्यवस्था ठीक नहीं है। इसमे जड़ मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

मनुष्य ने साम्राज्य के अलावा एक और भी प्रयोग किया—संघ-राज्य का। कई कई राज्यो का आत्मरक्षा के लिए या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए, मिल कर एक संघ-राज्य बना। संघ ने अपने अन्दर के निवासियो का हित साधन किया, पर इसमें भी वह वर्ण-भेद यानी काले गोरे के रोग से नहीं बच पाया। अपने क्षेत्र से बाहर के राज्यो से उसका व्यवहार साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह गैरियत या परायेपन का होता है। संघ-राज्य भी दूसरे देशों को अपने अधीन बनाये रखने और उनका शोषण करने का अभिलाषी होता है, जैसा कि हम अमरीका के संयुक्त राज्यों के विषय में पहले लिख चुके हैं।

निदान, साम्राज्य हो या संघ-राज्य हों, इन संगठनों ने संसार को ऐसे अलग अलग टुकड़ों में बांट रखा है. जिनके स्वार्थ एक दूसरे से टकराते हैं। फिर, दुनिया का काफी हिस्सा ऐसा रहता है, जो उनके क्षेत्र से बाहर होता है। और, जब तक कोई भी हिस्सा ऐसा रहेगा, जिसे हम अपना न समझ कर पराया या गैर मानें, या जो अपने आपको अलग रखे, और दूसरों के सुख-दुख से बेपरवाह रहे, तब तक टिकाऊ शान्ति नहीं हो सकती, आगे पीछे युद्ध होना अनिवार्य रहेगा।

यह बात इतनी सीधी और साफ है कि इस पर जोर देने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु कितने ही बड़े बड़े राजनीतिज्ञ भी संसार की नयी व्यवस्था या विश्व-शान्ति की योजनाएँ बनाते समय, इसे भूल जाते हैं।

सन् १९३९ में, वर्तमान (दूसरा) महायुद्ध शुरू होने से पहले लन्दन मे 'फेडरल यूनियन' नामक की एक संस्था क़ायम की गयी। इस संस्था का उद्देश्य है संसार भर के प्रजातंत्र राज्यों का, संयुक्तराज्य अमरीका के ढंग पर, एक विश्व-संघ क़ायम करना। इस पर श्री० क्लेरेंस के० स्ट्रेट नाम के अंगरेज़ लेखक ने 'यूनियन नाऊ' नाम की पुस्तक लिखी है। लेखक ने कहा है कि इस तरह का विश्व-संघ कायम करने में कई रुकावटें है, जैसे (क) फासिस्ट सरकारें इसका विरोध करेंगी, और (ख) खास कर एशिया और अफ्रीका में ऐसे बहुत से राज्य हैं, जो अभी बहुत पिछड़े हुए हैं। परन्तु जब तक ये रुकावटें दूर न हों, हमें हाथ पर हाथ धरे न बैठे रहना चाहिए। पहले दुनिया के सब प्रजातंत्र राज्यों को विश्व-संघ में शामिल हो जाना चाहिए। बाद में दूसरे राज्य भी यदि वे प्रजातंत्र को अपनी शासन-प्रणाली का आधार मान लें तो शामिल हो सकेंगे। लेखक ने इस संघ में शामिल करने के लिए १५ राज्यो के नाम गिनाये हैं—(१) संयुक्तराज्य अमरीका, (२) ब्रिटेन, (३) फ्रांस,* (४) केनेडा, (५) नेदरलैण्ड,* (६) बेलजियम,* (७) आस्ट्रेलिया, (८) स्वीडन, (९) स्विटज़रलैण्ड, (१०) डेनमार्क,* (११) फ़िनलैण्ड, (१२) आयर्लैंड, (१३) नार्वे,* (१४) दक्षिण अफ्रीका का यूनियन, और (१५) न्यूज़ीलैण्ड।

इस संघ में इटली, जर्मनी और जापान जैसे फ़ासिष्ट राज्यों को जगह नहीं दी गयी। इसमे सोवियट प्रजातंत्र संघ की भी कोई जगह नहीं है, और एशिया को तो इस 'विश्व-संघ' की योजना से बिल्कुल ही बाहर रखने की कोशिश की गयी है।

---

* ये देश इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय जर्मनी के अधीन हैं.

क्या एशिया के दो बड़े बड़े देश चीन और हिन्दुस्तान प्रजातंत्र-वादी नहीं है ? फिर उन्हे इस योग्य क्यों नहीं समझा गया ? न्यूज़ीलैण्ड जैसे छोटे से उपनिवेश को विश्व-सघ में जगह मिल सकती है, पर हिन्दुस्तान जिसमे ४० करोड़ की आबादी है और जिसकी सांस्कृतिक परम्परा का संसार ऋणी रहा है, उसे बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह उपेक्षा वास्तव मे हास्यास्पद ही नहीं है, यह ससार को शान्ति—स्थायी शान्ति—के स्थान पर स्थायी महा सकट की ओर ले जाने वाली है।* संयुक्तराज्य अमरीका को और ब्रिटेन को इस सूची में मुख्य स्थान दिया गया है। किन्तु इन्हे असल में प्रजातत्रवादी तभी कहा जा सकता है जब ये अपने अधीन देशों को आज़ाद कर दें, और साम्राज्यवाद का अन्त कर दें। अभी तो ये एशिया और अफ्रीका के बहुत से हिस्सो में, और जगह जगह अनेक टापुओ में, किसी न किसी रूप में अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। श्री० स्ट्रेट ने अपनी योजना में पिछड़े हुए देशों को 'विश्व-संघ' में शामिल होने के योग्य ही नहीं माना। ऐसे लेखकों की दृष्टि में 'विश्व' का अर्थ सम्पूर्ण विश्व न होकर बहुत दरजे तक 'गौरांग विश्व' ही होता है।

पर जैसा कि डाक्टर बेनी प्रसाद के, 'योगी' में प्रकाशित, एक लेख मे कहा गया है, "जब तक एशिया, अफ्रीका और दुनिया के दूसरे हिस्सो में साम्राज्यवादी शोषण और विदेशी शासन कायम रहेंगे तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। तब तक बहुत ही सतर्कता और दूरन्देशी के साथ तैयार किया हुआ मसविदा भी अकाल कवलित हो जायगा। जब तक इन

* श्री० रामनारायण जी यादवेन्दु के एक लेख से।

भू-भागो पर शासन करने वाले लोग अपने शासितो को अपनी विलास-सामग्री जुटाने का साधन मात्र समझते रहेगे, तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। किसी दूसरे देश की कमजोरी से लाभ उठाकर उसका शोषण करने और उसके बाशिन्दों को उच्च जीवन व्यतीत करने के योग्य न बनने देने से तो युद्ध की विभीषिका दिनोदिन बढ़ती ही जायगी।"

हमे ध्यान रखना चाहिए कि जब बहुत से छोटे छोटे राज्य होते हैं तो बहुत सी छोटी छोटी लड़ाइयाँ होती हैं। जब बड़े बड़े राष्ट्र-राज्य, साम्राज्य या संघ-राज्य बन जाते हैं तो लड़ाइयाँ कम हो जाती है, पर उनका फैलाव और भयंकरता बढ़ जाती है। इतिहास से पता चलता है कि विविध राज्यो का एक दूसरे से लड़ने का मानो नियम ही है। 'राज्य' झगड़ालू रहा है; इस समय भी उसका स्वभाव लड़ने का है, भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा। जब तक बहुत से राज्य है, तब तक उनमें युद्ध होगे। जब तक एक से अधिक राज्य होगे, चाहे वे दो ही क्यों न हों, युद्ध टल नहीं सकते। जब द्वैत भाव का अन्त हो जायगा, जब 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' की स्थिति आ जायगी, तभी युद्धों और महायुद्धो का अन्त होगा। शान्ति चाहती है कि विश्व-बधुत्व के आधार पर, विश्व में केवल एक राज्य का संगठन हो। संसार में विश्व-राज्य की स्थापना जरूरी है—संहार कार्य को बन्द करने के लिए और सभ्यता की रक्षा के लिए। पहले की बात छोड़ भी दें तो दूसरे महायुद्ध का अनुभव हमारे सामने है। संसार में जब तक बहुत से अलग अलग राष्ट्र, कुछ संघ-राज्य और कुछ साम्राज्य हैं, तब तक शान्ति नहीं रह सकती। यदि महायुद्ध के फल-स्वरूप एक दो साम्राज्यों का लोप भी हो जाय तो भी काम न चलेगा। जब तक एक से अधिक अलग अलग

राज्यो का अस्तित्व रहेगा, तब तक छोटे राज्यो की स्वाधीनता ख़तरे में रहेगी; बलवान मौका पाकर निर्बल को धर दबावेगा, याकुछ राज्य मिल कर, अपनी शक्ति बढ़ा कर दूसरो का रहना मुश्किल कर देंगे। इससे भली भांति सिद्ध होता है कि ससार भर के सब राज्यों का एक सघ-राज्य यानी विश्व-राज्य होने की अनिवार्य आवश्यकता है। पृथ्वी पर राजनैतिक संगठन केवल एक ही होना चाहिए। एक राज्य, एक झंडा, एक नीति, एक आदर्श, एक जीवन, यह हमारा लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति संधियो या समझौतो से होने वाली नही है। ज़रूरत है कि नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सब दृष्टिकोणो से काम लिया जाय। नैतिक दृष्टि से आपको और मुझे—हर व्यक्ति को—युद्ध से वैसे ही बचना चाहिए, जैसे हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी मे चोरी या हत्या से बचते है। सामूहिक हत्या वैसे ही ग़लत है, जैसी व्यक्तिगत हत्या। सांस्कृतिक दृष्टि से, लोगो को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो विश्व-इतिहास, विश्व-साहित्य और विश्व-भाषा के पढ़ने-पढ़ाने से उनमें विश्वबधुत्व की भावना पैदा करे। राजनैतिक दृष्टि से विश्व-नागरिकता का प्रचार करके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद को मिटाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से पूजीवाद की जगह लोकतंत्रात्मक समाजवाद को दी जानी चाहिए। इन विषयो पर खुलासा विचार अगले अध्यायो मे किया जायगा।

तेइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ के आधार

अब तक प्रायः राज्य का आधार शक्ति मानी गयी है। कुछ लोगों ने यह साफ साफ स्वीकार नहीं किया, तो कुछ ने यह खुल्लम-खुल्ला कहा है। शक्ति-सिद्धान्त के प्रचार का फल मानव जाति चिर काल से देखती और भोगती आ रही है। संसार हमेशा युद्धों में फंसा रहा है। हमें अब यह समझ लेना चाहिए कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ हिन्सा या बल-प्रयोग के कमजोर आधार पर कायम नहीं होगा. उसके आधार मजबूत, व्यापक और सब के भले के सिद्धान्त होंगे। ये सिद्धान्त तीन हैं—(१) स्वतन्त्रता या आज़ादी, (२) समानता या या बराबरी, और (३) विश्व-बन्धुत्व या भाईचारा।

१— स्वतंत्रता— सब नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने, भाषण देने, सम्मेलन करने, बहस कहने, आज़ादी के साथ पुस्तक समाचारपत्र आदि छापने, आलोचना करने आदि की स्वतंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य इस तरह पैदा नहीं होता कि उसकी ज़बान रस्सी से बंधी हो, या उसके हाथों में जंजीर पड़ी हो। अपनी इच्छानुसार सोचने बोलने और काम करने मे स्वतंत्र न होना—यह मनुष्य से कुछ कम होना है, यह उन पशु पक्षियों से भी नीचे दरजे का होना है, जो अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जिन्दगी गुजारते हैं। केवल स्वतंत्र पुरुष और स्त्री ही सीधे खड़े होकर चल सकते हैं, सच बोल सकते हैं, और मानवता की पूरी

ऊचाई तक उठ सकते हैं। पूर्ण स्वतंत्रता ही वह भूमि है, जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता है, और उसमें सौन्दर्य, ज्ञान, नेकी, आनन्द और प्रेम के उत्तमोत्तम फल लगते हैं। केवल स्वतंत्र आदमी ही यह कह सकता है "मैं सोचता हूँ, मैं महसूस करता हूँ, मै इच्छा करता हूँ; इसलिए मैं हूँ।" स्वतंत्रता ही मनुष्य को मशीन से ऊपर उठाती है। (यदि हम सुन सकें तो) विकास करने वाली हर आत्मा अपने जन्म के समय यह कहती है कि "मैं अधिकार पूर्वक स्वतंत्र हूँ, किसी को मुझे पराधीन करने का अधिकार नहीं है। मै खुद अपना कानून हूँ, जब कानून नहीं था तब भी मैं रही हूँ। यदि दूसरे मेरी मदद करें तो अच्छी बात है, पर कोई मेरे आगे बढने में, मेरी प्रगति में रुकावट न डाले।"

विश्व-राज्य मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का आदर करेगा। किसी पर कोई बन्धन न लगाया जायगा, किसी का मुँह बन्द न किया जायगा; क्योंकि विश्व-राज्य में किसी के मौरूसी या रूढ़िगत स्वार्थ न होंगे, जिन्हे स्वतत्र भाषण या लेखन से डर रहता है। स्वतंत्रता का सबसे बढ़कर विकास समानता की उस भूमि में होता है, जहाँ कोई धनहीन, धनवानों की थैलियो के बोझ से, कुचला नहीं जाता। पुरातनवाद या रूढ़िवाद को आलोचना का डर लगा रहता है। परन्तु विश्व-राज्य प्रगति या उन्नति को अपना मूल सिद्धान्त यानी बुनियादी असूल मानता है। वह यूनान, हिन्दुस्तान या चीन की सी ढली ढलाई रीति नहीं चाहेगा, उसे तो नये प्रयोगों और नयी संस्थाओं मे आनन्द आयेगा। कोई दिन अपने स्वप्न बिना न होगा कोई महीना अपनी नवीनता बिना, और कोई वर्ष अपनी कल्पना के बिना न होगा।

प्रगति परिवर्तन पर निर्भर रहती है, तरक्की तबदीली पर। इसलिए सब नागरिकों को आलोचना और संशोधन की आज़ादी रहनी चाहिए। नया विचार पहले किसी एक व्यक्ति के मन मे, या कुछ व्यक्तियों के मन मे, पैदा होता है। बाद मे वह समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है, जो उसका नामकरण और पालन पोषण करता है। यदि स्वतन्त्रता की कमी होगी तो नये विचार पैदा ही न होंगे; यदि उनका जन्म भी हुआ तो वे मृतावस्था में होंगे। नये विचारो का जन्म रोकना या उनका गला घोटना मानवता के प्रति एक भयकर अपराध है। अच्छे विचार की हत्या करना ऐसा ही है, जैसे अच्छे आदमी को मार डालना। नये विचारों की उत्पत्ति मे कोई बाधा खड़ी नहीं की जानी चाहिए। उनकी तादाद बढ़ने से डरने की ज़रूरत नहीं, उनमे से जो गलत या अयोग्य होंगे, वे जीवन-संघर्ष में खुद ही समाप्त हो जायँगे। जो योग्य होंगे, वे बच रहेंगे; राज्य उन्हें परिस्थिति के अनुकूल बना लेगा, और उनका विकास करेगा।

अब तक जनता पर कानूनों का कितना अधिक दबाव और बोझ रहा है! क़ानून और स्वतत्रता एक दूसरे के ऐसे ही विरोधी हैं, जैसे दिन और रात। पिछले ज़माने में पोशाक, खेल-कूद धर्म और भोजन तक के बारे में राजनियमों का बन्धन रहा है: इंगलैण्ड में तेरहवीं, चौदहवीं, और पंदरहवीं सदी में पोशाक के बारे में पार्लिमेंट के कानून जारी थे। अब भी कितनी ही बातें ऐसी हैं जो एक देश में रिवाज मानी जाती हैं, और दूसरे मे अपराध समझी जाती हैं। कितने ही राज्यों में वेश्या का पेशा कानून से बन्द और दंडनीय है, तो कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहाँ इसकी खुली इजाज़त है। कुछ राज्यों में तमाखू पीना मना है

तो दूसरे राज्यों में सरकार को तमाखू बेचने का एकाधिकार है। इंगलैण्ड में हजरत ईसा की निन्दा करना अपराध माना जाता है, पर रूस में ऐसा नहीं है। वहाँ मार्क्स या लेनिन को बुरा भला कहना निन्दनीय है। हिन्दुस्तान में नंगे साधु जलूस बना कर चल सकते हैं, अमरीका मे ऐसा करना दंडनीय है। व्यावहारिक नियम यही मालूम होता है कि राष्ट्र उस बात या रिवाज को रोकते और उसके लिए दंड देते हैं, जो उस युग में व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर समझा जाता है। लेकिन इसमें सिद्धान्त की कोई बात नहीं है। हर दल, सम्प्रदाय या धर्म अपनी रीति रस्मों या अपने व्यवहार को ही पवित्र और मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी समझता है। हर सत्ता दूसरों से अपनी बात मनवाने के लिए पुलिस, जेल और फांसी की मदद लेती हैं। स्वतंत्रता, कानून की इस तरह की, निर्दयता और सनक से घृणा करती है। पुरुष और स्त्री को पूरी तरह आज़ाद होना चाहिए। विश्व-राज्य में इसका यथेष्ट ख्याल रखा जायगा।

विश्व-राज्य में उचित शिक्षा और अच्छी संस्थाओं के प्रताप से सब नागरिक नेक और ज्ञानवान होंगे। वे स्वयं अपने स्वभाव से ही नेक काम करेंगे। उनके पालन पोषण और दिनचर्या में ही उन्हें इस बात की शिक्षा मिल जायगी कि वे मन, बचन और काम से सब का हित साधन करें, और यह समझें कि सब के हित में ही उनका हित है। उन्हें कानून की ज़रूरत न होगी; पूर्ण स्वतंत्रता के कारण ही वे समाज-विरोधी काम करने से बचे रहेंगे। डर से किया हुआ नेक काम, स्वतंत्रता पूर्वक किये हुए बुरे काम से भी, किसी अंश में बुरा है, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्य किसी न किसी दिन नेक काम करना सीख लेगा, परन्तु गुलाम कभी नहीं सीख सकता। ज़बरदस्ती स्वतंत्रता को नष्ट कर देती

है, और जब स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है तो सत्कार्य या नेकी भी मर जाती है।

स्वतंत्रता की सीमाओं पर बहस करना बेकार है। लोगों को अच्छे स्कूल और अच्छी आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ दीजिए, नागरिकों को योग्य बनाइए, सहकारिता कायम कीजिए, प्रतिद्वन्दिता और दमन को छोड़ दीजिए, तब अपरिमित स्वतंत्रता के व्यवहार से भी कुछ डर न होगा; वह हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिस दासता में आदमी इस समय अनेक कानूनों द्वारा बंधा हुआ और कुचला हुआ है, उससे मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है। अगर मैं दूसरों के दुख सुख को समझ सकू, दूसरों के दुख को अपना दुख, और दूसरो के सुख को अपना सुख मान सकू, अगर मेरे मन मे उन कामों के ही करने की इच्छा हो जो मेरे भाई, बंधु, पड़ोसी या साथी मुझ से कराना चाहते हों तो मेरी स्वतंत्रता में कोई बाधक होना क्यों चाहेगा?

२—समानता—आजकल दुनिया में विषमता का भयङ्कर दौर दौरा है। रग या जाति-भेद के बारे मे पहले लिखा जा चुका है। खास बात यह है कि यूरोप की गोरी जातियों के आदमी रंगदार आदमियों से अपने आप को ऊँचा मानते हैं, और यूरोप में भी जर्मन अपने आप को सबसे ऊँचा समझते हैं। डाक्टर ले ने ३१ जनवरी १९४० के 'एगरिफ' मे लिखा था कि ऊँची जाति की निस्बत नीची जाति वालों को कम जगह, कम कपड़ा, कम भोजन और कम संस्कृति की ज़रूरत होती है; कोई जर्मन उन हालतो मे गुज़र नहीं कर सकता, जिन में एक पोल या यहूदी कर सकता है। यह भावना आजकल की सभ्यता के लिए बड़ा कलंक है।

समानता छः तरह की होती है—शारीरिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक। इन छओ तरह की समानता के बिना विश्व-राज्य फले फूलेगा नहीं।

(क) शारीरिक समानता। हमारा आदर्श मानव जाति की ऐसी शारीरिक उन्नति करना है कि लोगो की शक्ति, तन्दुरुस्ती और सौंदर्य में लगभग समानता हो। अधे, गूगे, बहरे और अपाहज आम तौर पर अन्याय के शिकार बन जाते हैं। शारीरिक शक्ति में बहुत अधिक असमानता से गुडो और कायरों का जन्म होता है। यदि थोड़े से ही नागरिक सुन्दर हो तो उनमें अहंकार और चंचलता आ जाती है, और बहुत बदसूरत आदमी जीवन भर अपने अन्दर हीनता का अनुभव करते रहते है। विश्व-राज्य के नागरिक कमजोर या बदसूरत नहीं होने चाहिएँ।

(ख) आर्थिक समानता। इस पर विचार धन के बँटवारे के सम्बन्ध में किया जायगा।

(ग) सांस्कृतिक समानता। शिक्षा की समानता को राज्य की बीमा-पालिसी कह सकते है। शिक्षा ही नागरिको को राज्य के योग्य बनाती है। शिक्षा ही से एकता और सामञ्जस्य पैदा होते हैं। शिक्षा चरित्र का निर्माण करती है, और जीवन के आदर्शों को दिल मे बैठा देती है। पानी और रोटी की तरह शिक्षा सब के लिए खुली होनी चाहिए। इस समय थोड़े से धनी परिवारों ने उच्च शिक्षा पर एकाधिकार जमा रखा है, जबकि लाखों निर्धन नागरिको को थोड़ी बहुत जो भी शिक्षा मिल जाय, उसी से संतोष करना पड़ता है। समाज दो सांस्कृतिक श्रेणियो मे बँटा हुआ है :—(१) कालिजो मे शिक्षा पाये हुए थोड़े से भाग्यशाली पुरुष, स्त्रियां और (२) प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त या उससे भी वंचित असंख्य नागरिक। इस विषमता का

नतीजा यह है कि कुछ इने गिने लोग तो कई विषयों के 'डाक्टर' हो जाते हैं, और अधिकांश जनता के लिये 'काले अक्षर भैंस बराबर'। ऐसे दो वर्गों में उचित सामाजिक सम्बन्ध होना असम्भव है। शिक्षित आदमी साहित्य, सगीत कला आदि की चर्चा मे लीन रहता है, वह इन विषयो के ज्ञान से हीन अपने असख्य भाइयों को भर्तृहरि के शब्दो में 'बिना सीग और पूँछ के पशु' समझता है। समाज के ऐसे विद्वानों और मूढ़ पुरुषो में मेल कैसे हो सकता है! हमें सब नागरिकों के लिये एक लगभग समान कोटि की शिक्षा तय कर लेनी चाहिए। मौलिक खोज या अनुसंधान का काम खास लगन वाले विद्वान करें। समाज अलग अलग टुकड़ों में—शिक्षित और अशिक्षितों में—बँटा न रहना चाहिए। विश्व-राज्य में यह नहीं चल सकता।

एक और तरह की भी समानता जरूरी है। नागरिकों को ऐसा अभ्यास कराया जाना चाहिए कि सब लोग शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के काम करें। इस समय समाज का एक बँटवारा दिमागी काम करने वालो और मजदूरों में हो रहा है। पढ़े लिखो में बहुत से ऐसे मिलेंगे, जिनसे अपने कपड़े धोते या अपने कमरे में झाड़ू लगाते नहीं बनता। जब उनका कोई मित्र या अतिथि आता है तो उन्हे यह कहने में संकोच नहीं होता, "क्या करें, आजकल हमारे यहां कोई 'आदमी' (नौकर) नहीं है, इसी से कपड़े मैले पड़े हैं, और कमरे में भी सफाई नहीं है।" इस कथन में उनकी यह भावना साफ़ है कि हम तो दिमागी काम करने वाले ठहरे, जरूरत होने पर भी हम यह नीचे दरजे का काम नहीं कर सकते, यह तो बेपढ़ों और छोटे लोगों के करने का है। मानव जाति का यह भेद भाव बहुत लज्जाजनक है। यदि हम अब तक दिमागी काम करने वाले रहे हैं तो

अब हमें कुछ हाथ के काम का अभ्यास करके इस भेदभाव को मिटाने में अमली हिस्सा लेना चाहिए। टाल्स्टाय, म० गांधी और थोरो जैसों के जीवन इस बारे मे काफी शिक्षाप्रद हैं। यदि हम श्रमजीवी हैं तो हमें अपना फुरसत का समय लिखना पढ़ना सीखने में लगाना चाहिए। हम यह न सोचें कि हमारी बहुत सी उम्र बीत गयी है, अब हम क्या सीख सकते हैं। मज़बूत इरादे वालों के लिए आयु का विचार रुकावट नहीं डाल सकता। निदान समाज का, ऊपर बतायी हुई दो श्रेणियों मे बँटना बन्द होना चाहिए।

(घ) सब नागरिको को बराबर मताधिकार होना चाहिए। विश्व-राज्य में शिक्षा का ठीक प्रचार होने, और धन के बँटवारे की असमानता न रहने से योग्य-अयोग्य का इस समय भेद भाव न रहेगा। साधारण कामों के लिए तो सभी योग्य होंगे। राज्य का ऊँचे से ऊँचा पद भी किसी श्रेणी विशेष की बपौती न रहेगा। सब के समान अधिकार और सब को समान सुविधाएँ होगी।

(च) सामाजिक समानता। विश्व-राज्य मे सब नागरिक होंगे—मालिक और गुलाम नहीं। स्पृश्यास्पृश्य का, सभ्य असभ्य का, या ऊंच नीच का भेद न होगा; काले गोरे का, एशियाई और यरोपियन का, हिन्दू, ईसाई आदि का भेद न होगा। खाने पीने या विवाह सम्बन्ध करने मे किसी पर कोई प्रतिबन्ध न होगा; आज दिन दो भले आदमी गहरे मित्र होते हुए भी, अलग अलग जातियों या रंगों के या धर्मों के होने के कारण, साथ बैठ कर खा पी नहीं सकते। अनेक बार युवक का ठीक अपनी पसन्द की युवती से, या युवती का अभीष्ट युवक से विवाह नहीं होने पाता; या तो रोमांचकारी आत्म-हत्या तक

नौबत आती है, और या वे जन्म भर दुखी रहते हैं। ऐसे सामाजिक विकार विश्व-राज्य में हरगिज़ नहीं रह सकते। विश्व-राज्य में सामाजिक समानता होगी। कोई छोटा बड़ा नहीं। सब समान साथी होंगे। उसमे लार्ड, नवाब, राजा, रायबहादुर, खां बहादुर अथवा वर्णमाला के अक्षरो के विविध जोड़ तोड़ की बनी हुई उपाधियाँ नहीं होंगी। ये उपाधियाँ समाज को टुकड़े टुकड़े करने वाली है—जैसे ऊँची उपाधि वाले, छोटी उपाधि वाले और बिना उपाधि के। उपाधियों का आविष्कार समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। विश्व-राज्य मे इसका अन्त होगा।

(छ) नैतिक समानता। नीति और सदाचार के बिना राज्य प्राणहीन है। विश्व-राज्य के नागरिको मे ये गुण पूरे-पूरे होने चाहिएँ। हर आदमी को निडर, निस्स्वार्थ, स्वावलम्बी निष्काम, विश्व-प्रेमी और परोपकारी होना चाहिए। नीति की कुछ मर्यादा सभी नागरिको के लिए तय रहनी चाहिए; कुछ व्यक्ति उस मर्यादा से कुछ ऊँचे भले ही उठें, लेकिन इतनी विषमता न होनी चाहिए कि कुछ आदमी तो सन्त महात्मा हो, और दूसरे अत्याचारी, बदमाश या गुंडे। हम सब को लगभग समान धरातल पर चलना ठीक होगा, इसी दृष्टि से नागरिको की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

३—विश्वबधुत्व—विश्वबंधुत्व मानव प्रेम की वह भावना है, जिसके बिना आदमी मे पूर्णता नहीं आती। विश्व-राज्य मे हमें अपूर्ण या अधूरे आदमी नहीं चाहिए, उसके नागरिकों मे विश्व-प्रेम होना जरूरी है। और, जैसा लाला हरदयाल ने लिखा है, प्रेम हमेशा अधिकार से अधिक देने की ही बात सोचता है। धन के बँटवारे में इसका नियम यह है कि हर आदमी अपनी

योग्यता के अनुसार काम करे और उसे उसकी ज़रूरत के अनुसार मिले। बच्चों का पालन पोषण अधिकारो से नहीं होता, प्रेम से होता है। बीमार आदमी धन पैदा नहीं करते और न्याय के कड़े नियम के अनुसार उनका अधिकार कुछ नहीं रहता, परन्तु प्रेम न्याय से अधिक शक्तिशाली है, और वह रोगियों को तन्दुरुस्त आदमियो से भी अधिक देता है।

प्रेम में आदमी अपने विषय में नहीं सोचता, सब के बारे में विचार करता है। वह अपनी इन्द्रियो के सुख की परवा नहीं करता, आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। वह दूसरो के दुख से दुखी, और दूसरों के सुख से सुखी होता है। प्रेम बहुत बातें नहीं बनाता, चुपचाप सब कुछ देखता है, और झटपट अपना सेवा-कार्य कर डालता है। वह मुसकराता रहता है और उसकी बोली हमेशा नम्र होती है। उसमें अहंकार नहीं होता। वह घमंड नहीं करता। वह दूसरे की ज़रूरत को, उस दूसरे से भी पहले जान जाता है। वह इस बात का इन्तज़ार नहीं करता कि दूसरा आदमी कुछ मांगे, वह तो पहले से ही खुद सहायता करने के लिए दौड़ पड़ता है। वह किसी के दोषो का फैसला करने नहीं बैठता, वह तो हर अपराध को क्षमा कर देता है। वह अभिमान नहींकरता, और न देनदारो को क़र्ज़े की याद दिलाता है। वह देता है और भूल जाता है; फिर और देता है और फिर भूल जाता है। वह अपने काम का समान पारिश्रमिक लेता है; पर उसे सब मे बाँट देता है। प्रेम 'मेरे-तेरे' की बात नहीं करता, 'हमारे' की बात करता है। वह किसी पर दोषारोपण नहीं करता। सेवा के लिए उसे कभी समय की कमी नहीं होती, वह कभी भी बहुत व्यस्त या थका हुआ नहीं होता।

वह दूसरों के गुणों को बहुत जल्दी ध्यान में ले आता है, पर उनके दोष मालूम करने में मदगति से काम लेता है। दूसरों की तारीफ मे उसे आनन्द आता है, वह किसी पर इलज़ाम लगाने का इच्छुक नहीं होता। वह दूसरों की कही हुई अच्छी बातो को दोहराता है, पर बुरी बातों को सुनी-अनसुनी कर देता है। वह सब को प्रसन्न करता है, और अपनी तरफ खेंचता है। वह सबको यह अनुभव कराता है कि पुरुष स्त्रियां अनेक नहीं है, बल्कि सब एक हैं—वह 'एक' रहेगा, जबकि 'अनेक' बदल जायँगे या चले जायँगे। वह एक मानवता है, विश्व-राज्य या विश्व-सघ है, जिसमे सब रहेगे, और चलें फिरेंगे। प्रेम धन्य है! आज दिन वह सब को सुख शान्ति देने वाला है, कल वह विश्व-संघ की आधार शिला होगा, जिसके नागरिको के जीवन का मूल मत्र यह होगा कि 'हर आदमी सब के लिए, और सब हरेक के लिए।'

—०—

चौबीसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की संस्कृति

अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं, तो इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नही होगा। महल तो हवा ही मे बनाये जाने चाहिएँ; बस, अब उनके नीचे नींव रख दो। —थोरो

विश्व-राज्य के बारे में हमारा आदर्श बहुत कुछ जनता की संस्कृति—शिक्षा, साहित्य, कला, मनोरंजन, रहन सहन आदि—पर निर्भर है। इस अध्याय में इन्हीं बातों पर विचार करना है। इनमें पहला विषय शिक्षा है।

शिक्षा —इस बात को सब मानते हैं कि समस्त नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे उनकी नैसर्गिक शक्तियों और उनकी अभिरुचियों के स्वतंत्र विकास मे सहायता मिले, और वे अपनी इच्छानुसार अपने लिए काम धंधे का चुनाव करके अपना निर्वाह और कर्तव्य-पालन अच्छी तरह कर सकें; इसमें उन्हे किसी तरह की रुकावट न हो। विश्व-राज्य में इसका पूरा पूरा ध्यान रखा जाना ज़रूरी है। 'शिक्षा' में हम घर की और बाहर की (स्कूलों आदि मे मिलने वाली) दोनो तरह की शिक्षा को शामिल करते हैं। इस समय हालत यह है कि घरो के अन्दर माता पिता आदि बच्चों को बहुत सी गैर ज़रूरी और दिमाग पर व्यर्थ बोझ डालने वाली बातें बतलाते हैं, वे उन्हें धर्म सम्प्रदाय, वंश और जाति बिरादरी सम्बन्धी अधिक से अधिक जानकारी कराने की कोशिश करते हैं; पर वे उन्हे वह बात नहीं बतलाते जो सबसे ज्यादह महत्व की है—यह कि हर मनुष्य, मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यो से सम्बन्ध रखता है; सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं; राष्ट्र-भेद, सम्प्रदाय-भेद सब बनावटी हैं; हर आदमी को दूसरो से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना चाहिए। माता पिता का काम है कि बालको को विश्वबंधुत्व की यह बुनियादी तालीम दें।

इस शिक्षा के काम को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी शिक्षा-संस्थाओं पर है। आजकल जहाँ तहाँ कुछ बड़ी बड़ी संस्थाएँ क़ायम हैं, पर अधिकाँश संसार अज्ञान-अंधकार में डूबा है। बहुत से देशों में ज्यादहतर जनता मामूली लिखने पढ़ने से भी वंचित है। भारतवर्ष में नब्बे फीसदी आदमी अनपढ़ हैं, इसका अर्थ यह है कि अकेले इसी देश में तीस करोड़ से ऊपर पुरुष स्त्री अनपढ़ हैं। फिर, शिक्षा के तरीके की बात लीजिए। हर

राज्य शिक्षा-विशारदो और बड़े बड़े विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा की नयी नयी योजनाएँ और नये नये पाठ्यक्रम बनवाता है। भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के अलावा कई तरह के विज्ञानो की शिक्षा दी जाती है। परन्तु नागरिकता, विश्व-नागरिकता अर्थात् मनुष्य मात्र के प्रति कर्तव्य-पालन की शिक्षा का सब जगह अभाव है। नागरिकता के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है वह भी राष्ट्र-नागरिकता की भावना का ही पोषण करने वाली होती है, जिससे बालको को दूसरे राष्ट्रों के बालको से प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता अनुभव करने की उत्तेजना मिलती है। हम अपने स्कूलों और कालिजो से यह पाठ पढ़कर निकलते है कि जीवन एक सघर्ष है, दूसरों को धक्का देकर, उन्हे गिरा कर हमें अपना रास्ता बनाना है। संसार में दूसरे सब राष्ट्रों से हमें टक्कर लेने के लिए तैयार रहना चाहिए, इसीलिये हमे अपने राज्य या राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी जरूरी है। यह शिक्षा हमे एक सीमा के अन्दर राजभक्त या राष्ट्र-भक्त बनाती है, इसकी जड़ स्वार्थपरता है। यह हमें मानवता-प्रेमी नहीं बनने देती। यही कारण है कि हमारे बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ और विद्वान भी जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र की तङ्ग भावनाओं से ऊपर नहीं उठ पाते; हम विश्व-नागरिक नहीं बन पाते। विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बनने के लिए यह जरूरी है कि हमे स्कूलो और कालिजो मे विश्वबंधुत्व की शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा एक पीढ़ी के अन्दर मानव जाति का कायाकल्प कर देगी।

याद रहे, जो नियम और नीति विश्व-राज्य कायम करेंगी और उसे बनाये रखेंगी, वे सार्वभौम, वैज्ञानिक और आशा-वादी होंगी। विश्व-राज्य अपने बालकों को साम्प्रदायिकता

की, या निराशावाद की, शिक्षा न देगा। वह अन्धविश्वास, अकर्मण्यता, पराजयवाद या संसार-त्याग से समझौता न करेगा। वह नागरिकों को वैज्ञानिक पद्धति से अच्छी से अच्छी शिक्षा देगा; और फिर उन्हें विचार करने और काम करने के लिए पूरी आज़ादी देगा। उचित शिक्षा पाये हुए नागरिक अपने अपने कर्तव्य का पालन करने मे लगे रहेंगे और सब अंधविश्वासो से बचे रहकर विश्व-राज्य की उच्च नागरिकता का सुन्दर परिचय देंगे।

भाषा और साहित्य शिक्षा के साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा का माध्यम वही भाषा होनी चाहिए जो नागरिको की मातृभाषा हो; हाँ, मातृभाषा का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से लिया जाना चाहिए। बहुत छोटे छोटे जन-समूहो की बोलियों और उपभाषाओ को शिक्षा का माध्यम नही बनाना चाहिए। शिक्षा के काम मे हमारी निगाह भावी निर्माण की ओर हो, और ऊँचे साहित्य वाली खास खास भाषाओ को ही प्रोत्साहन दिया जाय। इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है।

अब दूसरे देशो से हमारा सम्बन्ध तेज़ी के साथ बढ़ता जा रहा है। हमें चाहिए कि दूसरे देशो की भाषाएँ सीखें, और उनका अपने यहाँ अधिक से अधिक प्रचार करें। भाषा सीखने में यात्रा से बहुत मदद मिलती है। किसी जगह चले जाने पर हम वहाँ की भाषा बहुत जल्दी और बिना जोर लगाये सीख लेते है। बालकों को नयी भाषा और भी आसानी से आजाती है। यह बात आगे की मिसाल से स्पष्ट होजायगी। यह समाचार १७ मार्च १९४४ के 'भारत' से लिया गया है; इस तरह यह इसी महायुद्ध के समय की बात है, जब कि इंगलैन्ड में बहुत से राष्ट्रो की सरकारें और वहाँ के आदमी जमा हैं।

"लन्दन के एक शिशु-पालन गृह में १४ अलग अलग राष्ट्रों के बालक आनन्द से समय बिता रहे हैं। पढ़ने और खेल-कूद के अलावा वे सहज ही दूसरे देशों की भाषाएँ और रीति-रिवाज सीख रहे है। एक पाँच वर्ष के डच बालक ने अपनी भाषा के अलावा फ्राँसीसी, अंगरेज़ी, और नारवेजियन भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। एक छः वर्ष की पोलिश बालिका पोलिश और जर्मन तो पहले ही बोलती थी, अब उसने अंगरेज़ी और फ्रांसीसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

"दूसरे देशो की अपेक्षा अंगरेज़ बालक विदेशी भाषा देर में सीखते है, किन्तु उनमे से भी बहुत से अपने माता पिता से कोई बात दूसरी भाषा में करके उन्हें आश्चर्य में डाल देते हैं। एक बार एक छः वर्ष के बालक की मा ने अपनी कुछ फ्रांसीसी सखियों को जल-पान के लिए बुलाया। बालक ने विशुद्ध फ्रेंच भाषा में बात करके सब को आश्चर्य में डाल दिया—विशेष कर अपनी माता को जो ६ वर्ष तक स्कूल में फ्रेंच पढ़ चुकने के बाद भी टूटी फूटी फ्रेंच ही बोल सकती थी।

एक अंगरेज़ माता ने अपनी यह परेशानी बतायी है कि उस के जुड़वा बच्चे जब उससे या अपने पिता से कोई बात छिपाना चाहते हैं तो फ्रेंच भाषा में बातें करने लगते है।"

इस से ज़ाहिर है कि एक साथ कई भाषाएँ सीखने का सवाल ऐसा विकट नहीं है, जैसा आम तौर से समझा जाता है। दूसरी भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान तो खासकर बचपन मे सहज ही हो सकता है।

विश्व-राज्य में यह तो मान ही लिया जाता है कि संसार धीरे धीरे छोटा होता जारहा है। जिस तरह इस समय हमें राष्ट्र

का काम चलाने के लिए और राष्ट्रीय भावनाओ का प्रचार करने के लिए एक एक राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत होती है, उसी तरह विश्व-राज्य का आधार एक विश्व-भाषा होगी। अब तक राष्ट्र-भाषाओ ने पुरुषो और स्त्रियो के मन और आत्मा को एक संकुचित क्षेत्र मे बन्द कर रखा है; विश्व-भाषा का प्रचार होने पर, उस एक भाषा के सीख लेने से, एक देश के नागरिक दूसरे किसी भी देश के नागरिको से मित्र और साथी के समान बात-चीत और व्यवहार कर सकेंगे। जब तक विश्व-सभाओ मे भाग लेने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं में समान भाषा का व्यवहार न होगा तब तक वास्तविक भाईचारा और राजनैतिक एकता की भावना न हो सकेगी।

कौन सी भाषा विश्व-भाषा हो, इस पर बहस करने की ज़रूरत नहीं है। संसार की भाषाओ मे जो भाषा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के लिए सुविधा की हो, जिसे सब देशो के आदमी आसानी से बोल सकें, जिसके उच्चारण में ज़बान को बहुत कष्ट न उठाना पड़े, जिसे आसानी से सीखा जा सके, उसी से काम चलाया जायगा। खास बात यह है कि हम विश्व-भाषा की बात को अव्यावहारिक या अमल में न आसकने वाली न समझें। यदि यूरोप भर का अन्तर्राष्ट्रीय काम फ्रांसीसी भाषा मे हो सकता है, यदि अगरेजी समझने वाले थोड़े बहुत आदमी संसार के सभी देशों में मिल सकते है, और यदि हम चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियो के लिए एक राष्ट्र-भाषा की बात को न केवल मान ही रहे हैं, बल्कि बहुत कुछ पूरी होते हुए भी देख रहे हैं तो मानव जाति के लिए यह आशा करना बहुत ज़्यादह नहीं है कि सवा दो सौ करोड़ आदमियो के वास्ते कोई एक विश्व-भाषा हो सकती है। जिस तरह राष्ट्र-भाषा के साथ दूसरी

प्रान्तीय भाषाएँ भली भांति बनी रह सकती हैं, और फलती-फूलती रह सकती है, उसी तरह एक विश्व-भाषा के होने से अलग अलग देशों की अपनी अपनी भाषाओ को कोई डर नही है।

अगरेजी भाषा के इतने ज्यादह प्रचार का एक कारण यह भी है कि यह उन राज्यो की भाषा है जिन्हे संसार में राजनैतिक और आर्थिक प्रभुता हासिल है। उसकी तुलना मे हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का. एक पराधीन और पिछड़े हुए देश की भाषा होते हुए भी इतना प्रचार हो जाना वास्तव मे बड़ी बात है। यह भाषा केवल हिन्दू और मुसलमानो के भावो के ज़ाहिर करने का ही साधन नहीं है, इसमे बौद्ध, पारसी, सिक्ख, ईसाई और यहूदी भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओ को ज़ाहिर कर सकते हैं। यह सच है कि अभी इस ज़बान मे सायन्स और उद्योग धंधो जैसे विषयो के साहित्य की कमी है। लेकिन हिन्दुस्तान के आज़ाद हो जाने पर बीस पच्चीस वर्ष मे ही यह कमी अच्छी तरह पूरी हो सकती है।

विश्व-भाषा के साथ विश्व-साहित्य पर भी विचार करने की ज़रूरत है। विश्व-सहित्य वही है, जो विश्व भर मे शान्ति कायम करने और उसे बनाये रखने मे मदद दे; जिससे राष्ट्रो-राष्ट्रो के बीच सहयोग बढ़े; जिसके पढ़ने और विचारने से विश्वबंधुत्व की भावना का विकास हो; आदमी जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद और राष्ट्र-भेद जैसे भेदो को भूल जायँ; आज कल के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए सब कमर कस लें, और हिन्सा और कूटनीति से सब परहेज करने लगें। ऐसा साहित्य हर राज्य में होना चाहिए और एक राज्य से दूसरे राज्य में बे रोक टोक आता जाता रहना चाहिए। अभी तो शक्ति

और साधनों की लोभी कौमें ऐसे साहित्य को ही प्रोत्साहन देती हैं, जिससे युद्धवादी मनोवृत्तियों को खुलकर खेलने का मौका मिले, और पढ़ने वाले यह समझें कि दूसरे राज्य हमारे शत्रु हैं, उनसे लड़े बिना हमारी गुजर नहीं; हमें उनको लड़ाई में हराने की ज्यादह से ज्यादह तैयारी करनी चाहिए, महायुद्ध से ही हमारे दुखों का अन्त होगा। इस तरह का सब साहित्य निन्दा और घृणा के योग्य है। इसे बन्द करके सब देशों की भलाई करने वाले साहित्य की रचना और उसका प्रचार बढ़ाया जाना चाहिए। मौजूदा हालत में हम ज्यादहतर अपने ही देश, जाति या धर्म के लेखकों की कृतियों से परिचित हैं, इससे हमारी जानकारी बहुत परिमित रहती है। दुर्भाग्य से हममें से बहुत सों ने ज्ञान को भी अलग अलग हिस्सों में बाँट कर बीच बीच में दीवारें खड़ी कर दी है। सच यह है कि महापुरुष या महान लेखक किसी देश या जाति के नहीं होते। उनका संदेश संसार भर के लिए होता है। गीता का ज्ञान-भंडार केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं है। बाइबल के उपदेश, उसमें 'पहाड़ी पर की शिक्षा' केवल ईसाइयों के लिए ही नहीं है। कुरान और त्रिपिटक से सब आदमी बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर सकते है।

म० गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, टाल्स्टाय, राधाकृष्णन, इमर्सन, रस्किन, शेक्सपीयर, कालीदास, शेखसादी, कबीर, मौलाना रूम, गुरुनानक, गोर्की, रोमाँरोलाँ, एच० जी० वेल्स, नार्मन एजल, बर्नार्ड शा, लुई फिशर, श्रीमति पर्लबक, जैसे लेखक सभी देशों के विचारशील पाठकों के दिल पर असर करते है। जब हमें उनकी रचनाएँ पढ़ने को मिलती हैं तो हम यह भूल जाते है कि वे किसी और देश या जाति के हैं, और हम किसी दूसरे के। सभी

देशों के साहित्य में कुछ-न-कुछ सामग्री ऐसी मौजूद है, जो सार्वभौम उपयोगिता की, सारे संसार के भले की, कही जा सकती है। इस सब सामग्री का सब मुख्य मुख्य भाषाओं मे सुन्दर सकलन किया जाना चाहिए। इस तरह विश्व-साहित्य दिन दिन बढ़ता रहना चाहिए, जिसके पढ़ने और मनन करने से पाठको को व्यापक दृष्टि से सोचने विचारने की आदत हो. और विश्व-नागरिक बनने में मदद मिले।

विश्व इतिहास – शिक्षा के अलग अलग विषयों में इतिहास की बात खास तौर से विचार करने की है। आज कल एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र की तरफ जो मनोमालिन्य पाया जाता है, उसकी एक बड़ी वजह इतिहास लिखने और पढ़ाने की दूषित पद्धति है।* हम संसार के अलग अलग हिस्सो या कौमो का इतिहास इस तरह पढ़ते हैं कि उससे हमें मानव एकता का बोध नही होता। हमारे मन पर यह बात जम जाती है कि हमारा ही देश, हमारी जाति या हमारा धर्म सब से अच्छा है. दूसरे देश, जाति और धर्म घटिया है। हम अहंकारी बन जाते है, और दूसरो से घृणा करने लग जाते हैं; यही बात आगे जा कर हमें दूसरे राष्ट्रो का विरोधी बनाती है। बालको के मन पर जमे हुए संस्कार जल्दी नहीं हटते। और, जब उनको यही शिक्षा मिली है कि अपने देश की सेवा करो, अपने राष्ट्र की उन्नति

* किसी देश की अलग अलग जातियों या सम्प्रदायों मे जो झगड़े होते हैं, उनका भी मूल कारण आम तौर पर यही होता है। खास कर हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादियों और उनके समर्थकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि उससे हिन्दू मुसलमानों में एक दूसरे के प्रति द्वेष-भाव बढ़ता है।

करो चाहे दूसरों की कितनी ही हानि हो, तो वे दूसरे देश वालों के प्रति सहानुभूति और सद्भावना कैसे रख सकते हैं! 'राष्ट्रीय' इतिहास मानव समाज को सामूहिक रूप से नही देखता, वह उसका अलग अलग ऐसे टुकड़ों के रूप में विचार करता है, जिनका एक दूसरे से मेल मिलाप न हो सके। इससे राष्ट्रो में एक दूसरे से कलह और संघर्ष बढ़ता है। ज़रूरत है कि इतिहास में राष्ट्रो, सम्प्रदायो या वर्गों की भेद भावना पर ज़ोर न दिया जाय, और इनके आपसी आदान प्रदान और इनकी एकता की ओर अधिक ध्यान दिलाया जाय। वास्तव मे इतिहास प्राणि-शास्त्र पर आश्रित मानवता का इतिहास होना चाहिए। ऐसा 'विश्व-इतिहास' ही मानव समाज का कल्याण करने वाला होगा।

एच० जी० वेल्ज ने ठीक कहा है—"यूनानी इतिहास, रोमन इतिहास, यहूदी इतिहास, ईसाइयत का इतिहास, अंगरेज़ी इतिहास, फ्रेंच इतिहास मध्ययुगीन इतिहास, जर्मन इतिहास, हमारे द्वीप की कहानी, हमारे साम्राज्य की नवलकथा—और इसी तरह और भी न जाने कितने अलग अलग इतिहासो का ससार मे अस्तित्व है—इन सब का अन्त कर देना चाहिए। इसकी जगह **मनुष्य के इतिहास** को हमें मानव प्राणिशास्त्र के पहलू से सिखाना चाहिए। हमें संसार के दूर दूर के कोनो में फैले हुए छोटे छोटे उपमानव के पारिवारिक समूहो से, जो एक दूसरे से अनभिज्ञ थे, शुरू करना चाहिए। भाषा, भाव प्रकाशन, रेखांकन के विकास को खोजना चाहिए। हम देखते है कि किस तरह विचारों के आदान प्रदान ने, और एक दूसरे को समझने की शक्ति ने इन छोटे समूहों को बड़े समूहों का रूप दे दिया। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि के हमखानाबदोशी, गुफाएँ, आश्रय-स्थल, आदि काल के निवास-स्थान और औजारो के आविष्कार—इन

सब की शिक्षा देते हैं, पर एक बार भी हम अपनी मानव जाति की बात नहीं कहते। लेन देन का इतिहास, विचार विनिमय का इतिहास, औजारों के आविष्कार का इतिहास और इस सब के साथ मानव मनोवृत्ति के फैलाव का विवेक पूर्ण अध्ययन बहुत आसान है, और किसी भी प्राचीन इतिहास से अधिक सत्य है। यह अध्ययन स्वास्थ्य और जीवन देने वाला भोजन है, परन्तु जाति, और राष्ट्र की कहानी विष से सना त्याज्य आहार है।"

जिस तरह सकीर्ण राष्ट्रीय इतिहास से राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है, उसी तरह विश्व-इतिहास के पढ़ने पढ़ाने से अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण होगा। जैसे विश्व-नागरिकों को हमे शिक्षा देनी है, उनके मानसिक भोजन के लिए विश्व-सभ्यता का इतिहास जरूरी है। विश्व-इतिहास सब जातियों और राष्ट्रों मे एकता की भावना पैदा करेगा। जिन महान पुरुषो और महान स्त्रियों ने हमे सभ्यता की बहुमूल्य विरासत दी है, उनकी याद और जयन्तियों से बालकों और बड़ो में विश्वबंधुत्व की भावना जागेगी।

राष्ट्र-राज्य अपने अपने लुटेरे और अत्याचारी विजेताओ या राष्ट्र-निर्माताओ के कारनामो की याद मनाते हैं, परन्तु विश्व-राज्य के नायक और नायिका सब देशो के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, कलाकार, सत महात्मा और महापुरुष होगे। वह राम और कृष्ण, मोहम्मद और ईसा, कबीर वाशिंगटन, लिंकन, गौतमबुद्ध, अशोक और अकबर, गांधी, लेनिन, कार्लमार्क्स और अनेक दूसरे महापुरुषों के जन्म-दिन मनायेगा; वह उन उत्सवों को मनायेगा जो मानव समाज की उन्नति के सूचक हैं, और इसी दृष्टि से नये नये उत्सवो की योजना करेगा। जगह जगह के अलग अलग उत्सवो में भी यही विचार-धारा काम करेगी, आज

कल के कितने ही उत्सव तब मनाने जाने योग्य न रहेंगे, और कितने ही उत्सवों का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जायगा।

यात्रा—शिक्षा का एक आवश्यक अंग यात्रा या सफ़र है। यात्रा से मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ता है, वह दूसरों के सम्पर्क में आता है, उनका समझने की कोशिश करता है, उसका विचार-क्षेत्र बढ़ता है, और उसकी सामाजिक भावना का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। बहुत पुराने ज़माने से आदमी यात्रा के साधनों में तरक्की करता रहा है। पहले वह पैदल ही चलता था। फिर उसने जानवरों की पीठ पर चढ़कर यात्रा करनी शुरू की; फिर गाड़ी, रथ, इक्का, बग्गी बनायी; साइकिल के रूप में उसने ऐसी सवारी ईजाद की, जिसमें जानवर की ज़रूरत नहीं होती, और थोड़ी मेहनत से यात्रा हो जाती है। भाप, बिजली, पेट्रोल आदि का उपयोग मालूम हो जाने पर मोटर, रेल और जहाज चलने लगे। अब हवाई जहाजों का युग आ रहा है।

हवाई जहाजों की बनावट में सुधार हो जाने, और छोटे छोटे हवाई जहाज तैयार होने पर उनका दाम घट जायगा और इनका प्रचार बढ़ जायगा। हाल में एक नये ढङ्ग का हवाई जहाज बना है, यह एक घूमने वाले पंख के सहारे ऊपर चढ़ सकता है और नीचे उतर सकता है। इसके लिये हवाई अड्डे की ज़रूरत नहीं है। यह आशा की जाती है कि धीरे धीरे इसमें इतना सुधार हो जायगा कि यह ज़मीन पर भी चल सकेगा और हवा में भी उड़ सकेगा। इस तरह हवाई जहाज से यात्रा बहुत ही आसान हो जायगी।

इस समय संकीर्ण राष्ट्रवाद ने यात्रा के शिक्षा सम्बन्धी महत्व को दबा रखा है। आदमी दूर दूर की यात्रा करके भी व्यापक दृष्टिकोण वाला नहीं बन सकता। उसका दिल और

दिमाग़ बहुत कुछ घर में बैठे हुए व्यक्ति की तरह होता है। ऐसे तंङ्ग ख्याल राष्ट्रवादियों को नज़र में रखकर ही शेखसादी ने कहा है—"ईसा मसीह का गधा मक्के की भी यात्रा कर आवे तो लौटने पर वह गधा ही रहता है।" किन्तु जब हम विश्व-भाषा बोल सकते होंगे, विश्व-इतिहास और विश्व-साहित्य में हमारी रुचि होगी, तो विश्व-यात्रा मे हमें कुछ और ही आनन्द आयेगा। सब विषयों पर हम विशाल दृष्टि से विचार करेंगे, हम में विश्वबधुत्व की भावना बढ़ेगी, और हम विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बन सकेंगे।

विश्व समाज - अब हम तनिक इस बात पर भी विचार करें कि विश्व-राज्य में जनता का सामाजिक जीवन कैसा होगा। मानव संगठन में एक अंश तक सामाजिक समरसता, एकसी रुचि होना आवश्यक है। यह ज़रूरी नहीं कि भोजन वस्त्र या मनोरंजन की चीजें पूरी तरह एक सी हो, फिर भी रीति रस्म या आचार व्यवहार की बहुत ज्यादह भिन्नता मित्रता मे बाधक होती हैं। विश्व-पार्लिमेंट के सदस्यों को गोष्टी या मित्र-मडली की तरह जीवन व्यतीत करने की आदत होनी चाहिए। आजकल दूर दूर के रहने वालों के आपसी सम्बन्ध बढ़ते जा रहे हैं। इसका नतीजा यह है कि हमारी भाषा, हमारे साहित्य, हमारे रहन सहन, खान पान, आचार व्यवहार, अर्थ-नीति, शासननीति सभी बातो पर दूसरे देशो का प्रभाव पड़ता है। आज दिन एक देश का नागरिक दूसरे देश के नागरिक से पहले की निस्बत कहीं ज्यादह निकट है।

यह ठीक है कि कुछ स्थानो में आने जाने के साधनो की ठीक ठीक उन्नति न होने और आमदरफ्त कम होने से लोगो का जीवन एक दूसरे से बहुत भिन्न है; वे न एक दूसरे की भाषा

समझ सकते है, और न पोशाक आदि मे ही एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु हम भेद भावों की ओर से अपनी नजरें हटा कर एकता की खोज करें तो उसकी मिसालों की भी कमी न रहेगी। जैसे, कितने ही भारतवासी अगरेज़ी भाषा बोलते हैं, अंगरेज़ी साहित्य पढ़ते है, अगरेज़ी खेल खेलते हैं, अंगरेज़ी पोशाक पहनते है, अंगरेज़ी ढग का खाना खाते हैं, और अंगरेज़ी ढंग के मकानो मे रहते है। यह कुछ अंश में अस्वाभाविक है। इसका कारण यह भी है कि भारतवर्ष मे अगरेज़ो का राज्य है, और कुछ लोग सब जगह शासको का अनुकरण करने वाले हुआ करते है। पर इसमे भी सन्देह नही कि अंगरेज़ी राज्य न रहने पर भी अगरेज़ी जीवन का प्रभाव यहां से पूरी तरह लोप नही हो जायगा, बल्कि जिस तरह की प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही है, उन्हे देखते हुए यही अन्दाज होता है कि भविष्य में अगरेज़ो से, और इसी तरह दूसरे यूरोप अमरीका वालों से हमारी भिन्नता कम होती जायगी। बात यह है कि जब हिन्दुस्तान आज़ाद होगा तो दूसरे देश यहां की बातो पर भी ज्यादह निस्पक्ष होकर विचार कर सकेंगे, उनकी ज्यादह कद्र करेंगे, और उन्हे अपनाने मे इस तरह सकोच न करेंगे, जैसा कि अब भारत की पराधीनता की हालत मे करते है। यही बात दूसरे देशो के बारे मे कही जा सकती है।

आज कल ससार के कई देशो के लोगों की अच्छी बातो का ठीक ठीक आदर और अनुकरण नहीं किया जा रहा है, क्योंकि वे पराधीन है, और शासक देशो मे मिथ्याभिमान भरा हुआ है। यह अवस्था बहुत समय तक रहने वाली नही है, सब देशों को स्वतत्र होना है। जब सब देश स्वाधीन हो जायँगे, तो हम अवश्य ही एक दूसरे के ज्यादह नज़दीक होगे। हमारे

आपसी सम्बन्ध बढ़ेंगे और वे तरह तरह के होंगे।

कुछ अंश में तो हमारे आपसी सम्बन्ध इस समय भी बढ़ते जा रहे है। लेकिन विश्व-राज्य के ख्याल से इस दिशा मे काफी प्रगति नही हो रही है। हम साधारण नागरिको की हालत पर विचार करें तो अभी बहुत कमी है। यूरोप और एशिया के, या अमरीका और अफ्रीका के, गोरे और काले आदमियो में से जन साधारण की एक गोष्टी बनाना बहुत कठिन है। हिन्दुओं की छुआछूत, अधिकांश एशिया की स्त्रियो की एकान्तता और परदा. और यूरोप वालों की मद्य मांस की ज़रूरत से ज्यादह रुचि सामाजिक समरसता में कम या ज्यादह बाधाएँ हैं। इन्हे धीरे धीरे दूर करने या कम करने की कोशिश होनी चाहिए। पोशाक की एकता का लक्ष्य रखने की ज़रूरत नहीं है, और कुछ परिवर्तन खुद ही हो रहा है। विश्व-राज्य सब आदमियो पर एक ही ढंग का पहनावा नहीं लादेगा, विभिन्नता में भी सौन्दर्य है।

मनोरंजन की बात यह है कि कुछ खेल—फुटबाल, क्रिकेट, शतरंज और ताश जैसे—व्यापक हो गये हैं। इनके अन्तर्राष्ट्रीय टूरनामेंट या दंगल होते हैं। संगीत पद्धति मे अभी बहुत भेद है। यूरोप वालो को पूरब का संगीत कम पसन्द आता है, और पूर्वी देशो के आदमी पच्छिम के संगीत की सराहना नहीं करते। संगीत शिक्षा की भी व्यापक पद्धति या पद्धतियो का प्रचार होना चाहिए, जिससे विश्व-नागरिक सब देशों के अच्छे संगीत का आनन्द ले सकें। ऐसी बातों से सामाजिक एकता बढ़ेगी, और इसी तरह विश्व-संघ की बुनियादें मज़बूत होंगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

विश्व–धर्म

नया धर्म दुनिया के सब महात्माओ का धर्म होगा। उसमें सदाचार और बलिदान को पहला स्थान दिया जायगा। वह सब देशों के प्रेमियों और वीरों को पूजा सिखाएगा। —*अज्ञात*

'साम्प्रदायिकता' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है कि अधिकाँश प्रचलित धर्मों ने परस्पर विरोधी सम्प्रदायों का रूप धारण कर रखा है। ये धर्म एक दूसरे के प्रति उग्र हो गये हैं। विश्व-राज्य मे यह बात नहीं चल सकती कि उसके नागरिक आपस में घृणा का व्यवहार करें, और एक दूसरे को मलेच्छ, नास्तिक, काफिर आदि कहें। उस राज्य में तो मानव एकता का आदर्श होगा।

मौजूदा हालत को सुधारने के लिए दो तरह के उपाय काम में लाए गए हैं और लाए जा रहे हैं—(१) सब धर्मों का अन्त कर देना, लोगो के दिल से धर्म सम्बन्धी भावना को ही मिटा देना। और (२) सब धर्मों का समन्वय करना, उनके समान गुणों और बुनियादी असूलो की ओर लोगों का ध्यान दिलाना, इन बुनियादी असूलों को मुख्य और ऊपरी कर्मकाँड को गौण मानना; इस तरह धार्मिक मतभेदों को दूर करना और विविध धर्मो के मानने वालों में केवल सहिष्णुता ही नहीं, समभाव बढ़ाना।

क्या धर्म का अन्त किया जा सकता है ? प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवान दास जी ने लिखा है कि यह ऐसा ही है, जैसा रोग का इलाज करने के लिए शरीर को ही खत्म कर देना। जब तक मनुष्य को कष्ट और मृत्यु का सामना करना है और और वह आगे पीछे दोनो ओर देखाता है, तब तक मानव हृदय और मस्तिष्क को उस धैर्य और सान्त्वना की आवश्यकता रहेगी, जो केवल धर्म ही दे सकता है। यदि बुद्धिमान लोग आम लोगो को सच्चा और वैज्ञानिक धर्म न देंगे तो वे नासमझ और स्वार्थी पंडे पुरोहितों के हाथो मे रूढ़ियों और अन्धविश्वासों मे ही फँसे रहेगे। धर्म की आवश्यकता से रहित केवल वे ही हो सकते हैं, जो सोच विचार नहीं कर सकते। उन महात्माओ को भी किसी अलग धर्म की चाह नहीं रहती, जिन्होने गहरा चिन्तन किया है, और अपनी असीम आत्मा में ही जीवन के रहस्य का पता लगा लिया है। उन्हें धर्म का तत्व मिल चुका है। मानव विकास की आजकल की अवस्था में ऐसे पहुँचे हुए लोग कम है; ज्यादहतर जन समुदाय को धर्म के किसी बाहरी रूप की भी अवश्यकता रहती है। यही कारण है कि संसार मे धर्म जीवित है। वह एक रूप में मिटता है, तो दूसरे रूप मे उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। रूस के प्रयोग की ओर ही देखें। वहाँ क्या हुआ ? जहां तक समाचार मिले हैं, अधिकारियो ने देश भर से धर्म को हटा देने की कोशिश की थी, पर अन्त मे जनता का प्रबल विरोध देखकर उन्हे उस मामले को छोड़ देना पड़ा। जो हो, रूस में लोगो का अपना धर्म है, गिरजे भी है और मसजिदें भी। केवल कहीं कहीं हजरत ईसा और मरियम की जगह लेनिन और स्टेलिन आराध्य देव है।

इसलिए धर्मो का अन्त करने की बात छोड़ कर हम धर्म-

समन्वय की ओर ध्यान दें। इस उद्देश्य को सामने रख कर समय समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा, सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्ययार्क (अमरीका) में थियोसीफिकल सोसायटी कायम हुई। उसके तीन उद्देश्य थे—(क) जाति, सम्प्रदाय, रंग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबधुत्व के भाव को फैलाना, (२) धर्मों, दर्शनो और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना, और मनुष्य की छिपी हुई शक्तियो का पता लगाना। थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय इस समय अडयार (मदरास) में है, और पचास से ऊपर देशो में सोसाइटी की शाखाएँ है।

सन् १८९३ से अब तक कई देशो के खास खास नगरो में विविध धर्मों की पार्लियामैंटें हो चुकी है। सब से पहली पार्लिमैट उस वर्ष शिकागो (अमरीका) मे हुई थी। सन् १९३३ से सब धर्मों का एक विश्व-सघ ('वर्ड फेलोशिप आफ फेथ्स') शिकागो मे काम करने लगा है। इसमे सब धर्मों, जातियों, और देशो के आदमियो ने हिस्सा लिया। इस संघ का उद्देश्य युद्ध, अन्याय, द्वेष, बेकारी, सकीर्ण राष्ट्रीयता और अज्ञान आदि आधुनिक समस्याओ का आध्यात्मिक हल खोज निकालना है। भारतवर्ष मे खासकर हिन्दू और मुसलमानों के मेल को लक्ष्य में रख कर कई एकता-सम्मेलन हुए हैं। गुरुकुल जैसी कुछ संस्थाएँ अपने सालाना जलसो मे सर्व-धर्म-सम्मेलन करती हैं, जिनमें विविध धर्मों के प्रतिनिधि अपने अपने धर्म के सम्बन्ध के निबन्ध पढ़ते हैं, या व्याख्यान देते हैं।

धर्म-समन्वय की दृष्टि से समय समय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर भगवानदास की 'दि असेन्श्यल यूनिटी आफ आल रिलीजन्स' और स्वामी कृष्णानन्द

जी की 'ह्यूमेनिज्म' या 'दि ह्यूमन रिलीजन' खास हैं।

धार्मिक मत भेदों को दूर करने के लिए समय समय पर अनेक प्रयत्न किये गये है, इन सब उपायो से लाभ हुआ है, पर इनमें से किसी को भी पूरी सफलता नहीं मिली। हर धर्म के अनुयायी अपने धर्म को ही सब से बढ़ कर, सब से सच्चा या सबसे अधिक विकसित और हितकर मानते है। यहाँ तक कि जो कोई उसमे कुछ खास सुधार चाहता है, या दूसरे धर्मों से उसकी तुलना करता है, वह धर्म-द्रोही या नास्तिक बताया जाता है। सुधारको या मेल मिलाप करने वालो का मार्ग कही भी सरल नही है। यह स्वाभाविक ही है कि कट्टर, अज्ञानी और अन्धभक्त लोग इस तरह के काम में रुकावट हो। परन्तु विश्व-हित के चाहने वाले और विश्व-राज्य के अभिलाषी सुधारको में इतना धीरज होना चाहिए कि वे ऐसी बाधाओ से विचलित न हो; बल्कि उन्हे अपनी सेवा के बहुमूल्य पुरस्कार के रूप मे स्वीकार करें। तभी हम सकीर्ण 'धर्मगत' सीमाओ को लांघ सकेंगे, सच्चा धर्म-भाव पैदाकर सकेंगे, और विश्वबधुत्व के आदर्श को चरितार्थ कर सकेंगे।

विश्व-धर्म कैसा होगा? पहले हम यह देखें कि धर्म किसे कहते है। जैसा कि पडित सुन्दरलाल जी ने कहा है* धर्म, मजहब, पन्थ, मार्ग, 'रिलीजन', आदि सबका करीब करीब एक ही अर्थ है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसके माने आराम करना या संभालना है। जिस चीज से दुनिया संभली

---

* इस अध्याय की कई बातें पडित सुन्दरलाल जी के उस भाषण से ली गयी हैं, जो उन्होने १ जून १९४१ को बारसी (शोलापुर) मे सर्व धर्म सम्मेलन के सभापति के नाते दिया था।

रहे उसी का नाम धर्म हैं। मजहब, पन्थ, मार्ग तीनो के माने रास्ता है। इस दुनिया मे आदमी को जिस रास्ते पर चलना चाहिए, जो उसकी भलाई और तरक्की का रास्ता है, उसी का नाम मजहब है। 'रिलीजन' जिस धातु से बना है, उसके माने 'बांधना' है, जो चीजें मनुष्य जाति को बांधे रखती है, उन्हे टुकड़े टुकड़े होने से बचाती है, वह उसका रिलीजन है। हिन्दू शास्त्र बतलाते हैं कि धर्म वह है जिससे मनुष्य का इस जीवन मे और इसके बाद दोनो जगह कल्याण हो।* धर्म के अन्दर अनेक गुणों का समावेश माना जाता है। अलग अलग आचार्यों ने इन्हे अपने अपने ढंग से बताया है। इस सब गुणो का आपस में सम्बन्ध है, और किसी किसी का दूसरे में समावेश भी भी हो सकता है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण ये है—धीरज, क्षमा, संयम, चोरी न करना, (मन और शरीर की) सफाई, इन्द्रियो को वश मे रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य, और क्रोध न करना।† सक्षेप मे मनुस्मृति मे अहिन्सा (दूसरो को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना), सत्य, चोरी न करना, सफाई और इन्द्रियों को वश में रखना इन को चारों वर्णों का सामाजिक धर्म बताया गया है।‡ मनु का यह भी कहना है कि 'आचारः परमो धर्मः' यानी सबसे ऊचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार (नेकी) है।

* यतोऽभ्युदय निश्रयस्सिद्धि स धर्म।

† धृति, क्षमादमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकम् धर्म लक्षणम् ॥—मनु० ६।९२

अहिन्सा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एत सामासिकं धर्मचातुवर्ण्येऽ ब्रवीन्मनु ॥—मनु० १०।६३

दूसरे धर्मों में भी इसी तरह की बातें कही गयी हैं। अगर हम ऋग्वेद, जेन्द अवस्ता, त्रिपिटक, इंजील, जैन सूत्र, और कुरान को बराबर बराबर रख कर ध्यान से पढ़ें तो हमें सब धर्म-ग्रन्थों में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देगी। ऋग्वेद के वाक्य के वाक्य और ऋचाएँ ज्यों की त्यों जेन्द अवस्ता में पाई जाती हैं। केवल यही नहीं; वेद, स्मृति, अवस्ता, बौद्ध और जैन ग्रन्थ, इंजील के नये और पुराने अहदनामे और कुरान इन सब में न केवल भाव और विचार ही बल्कि वाक्य के वाक्य इस तरह मिलते चले जाते हैं कि साफ मालूम होने लगता है कि या तो इन सब धर्म-ग्रन्थों ने एक दूसरे से लिया है और या कम से कम इन सब का एक ही सोता या सरचश्मा है।

मनु के धर्म के दस लक्षणों और हज़ारों मील दूर के हज़रत मूसा की मशहूर दस आज्ञाओं में गहरी समानता है। मनु ने दस के पांच करके उन्हें मनुष्य मात्र का सामाजिक धर्म बताया है। बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए दस 'शीलों' की आज्ञा दी है। पातजलि ने अपने योग सूत्रों में इन्हीं में से पांच को 'यम' और पांच को 'नियम' बना दिया है। बुद्ध ने जिन पांच 'नेक कामों' पर ज़ोर दिया है, वे ये हैं—(१) किसी के प्राण न लेना, (२) झूठी बात न कहना, (३) धोखे या ज़बरदस्ती से किसी की चीज़ न लेना, (४) शराब वगैरह कोई चीज़ इस्तेमाल न करना, और (५) व्यभिचार न करना।

जैन सूत्रों में लिखा है—हिन्सा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुनिया के किसी माल को अपना बनाकर बैठ जाना—इन पांच पापों से बचना, यही सच्चा व्रत है।

ठीक यही चीज़ें इसी तरह महात्मा ज़रथुस्त के उपदेशों, हज़रत ईसा के उपदेशों, और कुरान मजीद में मिलती हैं। देखने

की बात यह है कि पहली तीन चीजें—किसी की जान न लेना, झूठ न बोलना, और चोरी न करना—इन सब मे इसी तरह सब से शुरू मे और इसी तरतीब में मिलती हैं।

संसार के बड़े बड़े धर्मो मे हिन्दू धर्म सब से पुराना और इसलाम सब से हाल का है। भारतवर्ष में इन्हीं दोनो धर्मों के मानने वालो की तादाद ज्यादह है। इन सब से नये और सब से पुराने धर्मों मे विलक्षण समानता है। कुरान का 'ला इलाह इल्लल्लाह' उपनिषद् का 'एकमेवाद्वितीयम' दोनो एक दूसरे का लफ्जी तरजुमा है। 'अनलहक़' का ठीक वही अर्थ है जो 'अहंब्रह्मास्मि' का है। गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

अर्थात् ईश्वर सब के दिल में रहता है। इसी तरह इसलाम कहता है—

'कलवुल इन्सान वैतुर्रहमान'

अर्थात् आदमी का दिल रहमान के रहने की जगह है। कुरान में ईश्वर के नामों मे सब से ज्यादह 'इलाह' या 'अल्लाह' नाम आया है। ऋग्वेद में ईश्वर के अनेक नामो में से एक नाम 'इला' भी है। यह शब्द 'इल' धातु से बना है, जिस का अर्थ स्तुति या उपासना करना है।

इस तरह की सैकड़ों मिसालें विविध धर्म-ग्रन्थों से दी जा सकती हैं। खास कर गीता और कुरान इन दोनो को आमने सामने रखकर पढ़ने वालों को क़दम कदम पर इस तरह की सैकड़ो समानताएँ दिखायी देंगी। जरूरत केवल पढ़ने वाले में प्रेम और निष्पक्षता की है। वास्तव मे दुनिया के ये सब धर्म-ग्रन्थ एक ही आवाज़ की गूज हैं, और सब एक ही सोते से निकले हैं।

निस्सन्देह इन सब धर्मों मे फरक़ भी है, लेकिन फरक़ मूल सिद्धांतो या सदाचार के असूलो मे नहीं है। फरक़ है पूजा के तरीको, रूढ़ियो और रस्म रिवाजों मे। और ये सब बातें गौण है। जो आदमी अज्ञान वश इन ऊपरी गौण बातों को ही मुख्य मान लेते है, और इनके पालने को अधिक महत्व देते है, वे धर्म को झगड़े की चीज़ बना देते है। फरक इसलिये है कि वे बातें अलग-अलग देशो और अलग-अलग ज़मानो मे शुरू हुई। विचारशील आदमी को चाहिए कि इस रहस्य को अच्छी तरह समझ ले। सब धर्मो के महापुरुषों ने रूढ़ियो के गौण होने पर, और विश्वास, हृदय की शुद्धता, प्रेम, सचाई, ईमानदारी और परसेवा के मुख्य होने पर ज़ोर दिया है। गीता मे कहा गया है—

'जो जिस विधि विधान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, उसे ईश्वर उसी रास्ते से मिलता है अलग अलग रास्तों से चलकर भी सब लोग एक ही ईश्वर तक पहुँचते है।*

गीता ने साफ साफ कह दिया है कि ईश्वर के दर्शन वही कर सकता है, जिसने अपने आप को जीत लिया है, जो अपने और पराये के भेद भाव से ऊपर उठ गया है, जो (चिकीर्षु लोक सग्रहम) सब का भला चाहता है, (सर्व भूत हित रतः) सब की भलाई के कामों में लगा रहता है, और (आत्मवत् सर्व भूतेषु) सब को अपने समान समझता है। दूसरे धर्म-ग्रन्थों में भी इसी तरह की बातें कही गयी है।

---

* ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यह।
मम वर्त्तमानुवर्तते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

इन में किसी खास जाति या रंग के आदमियो के लिये ही शिक्षा नहीं है, बल्कि सब के हित की बातो का समावेश है। निस्सन्देह सार्वभौम धर्म का आधार ऐसे ही नियम हो सकते हैं। इनमे किसी भी विचारशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती।

जिस विश्व-धर्म का हम विचार कर रहे है, उसमे ऐसे ही व्यापक, सब के मानने योग्य. और सब के लिए हितकर सिद्धान्तो का समावेश होगा। वह हमे हर महापुरुष का आदर करना सिखाएगा; राम और कृष्ण को मानने वाला, और मोहम्मद और ईसा के गुण गाने वाला, बुद्ध और ज़रथुस्त्र को नहीं भुलावेगा। विश्व-धर्म का मूल मंत्र मानवता की सेवा होगी। मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान, और वह ईसाई—इन भेदभाव सूचक वाक्यों का तब अन्त हो जायगा। सब के लिए एक संज्ञा होगी—'मैं इनसान हूँ' और 'मेरा धर्म इनसानियत है।' ईश्वर है या नहीं, और है तो क्या और कैसा; उसकी तरफ से विशेष दूत, अवतार, पैगम्बर आदि आते हैं या नहीं, वह कौन कौन से तीर्थों में या मदिर, मसजिद या गिरजा में रहता है—इन प्रश्नों पर वादविवाद करना अनावश्यक होगा। इस तरह के विश्वासों और विचारों में सब को पूरी आज़ादी होगी। विश्व-राज्य के नागरिक की हैसियत में, इन बातों के कारण कोई फ़रक नहीं पड़ेगा। विश्व-राज्य केवल यह चाहेगा कि हर आदमी नैतिक गुण सम्पन्न हो, ईमानदार और सच्चा हो, वह समस्त मानव जगत के साथ प्रेम करे, और सब की सेवा और सहायता करता रहे।

क्या विश्व-राज्य में मदिर आदि होगे? यह बात व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहेगी। बहुत से लोगो के लिए उनका मन

ही मंदिर का काम दे देगा, उन्हे अलग किसी मंदिर की ज़रूरत न होगी। कुछ लोग ऐसे होने सम्भव हैं, जो अपने निजी या या सामूहिक उपयोग के लिए किसी पूजालय की ज़रूरत अनुभव करें। इस विचार से जहाँ तहा पूजालय बन सकेंगे, परन्तु कोई पूजालय किसी भी देश में हो. उसका स्वरूप और उद्देश्य आज कल की तरह भेद भाव पैदा करने वाला न होकर प्रेम बढ़ाने वाला होगा। वह किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर मनुष्य मात्र का होगा, और मनुष्य मात्र के लिए होगा। वह विश्व-मदिर का नमूना होगा। हम पहले कह चुके हैं कि विश्व-राज्य के नागरिक इतने उदार और विचारवान होगे कि उनमे यह बात नहीं पायी जायगी कि कोई आदमी किसी ख़ास महापुरुष, देवता या अवतार का तो भक्त हो, और दूसरे का निन्दक। वे इतने ज्ञानवान होगे कि उन्हे यह बहस करने की ज़रूरत न रहेगी कि उस मन्दिर पर शिखर हो या गुम्बद, उसकी शकल मसजिद की तरह हो, या गिरजा से मिलती हुई। ऐसी तुच्छ बातो को कौन सोचने बैठेगा!

विश्व-मंदिर मे हरजाति और देश के महात्माओ, लोकसेवको और सन्तो की सुन्दर यादगारें होंगी, जिन्होने मनुष्य-जाति की खास सेवा की है और उसके लिए त्याग और कष्ट सहन किया है, ऐसे मदिर मे जाने पर आदमी के हृदय में ऊँची भावनाएँ जागेगी. और विश्व-नागरिकता के अधिक से अधिक गुणो के विकास मे मदद मिलेगी। वहाँ धर्म-ग्रन्थो के रूप मे सब महानुभावों के जीवन-चरित्र और उनकी बड़ी बड़ी रचनाएँ रहेगी। विश्ववंधुत्व के ऊँचे धरातल से लिखी हुई अन्य सुकृतियों का भी वहाँ सग्रह रहेगा। ऐसे साहित्य को अवलोकन करने से कौन धन्य न होगा!

ऐसे विश्व-मंदिरो के निर्माण के लिए, लोकमत तैयार करना हमारा अभी हाल का कर्तव्य है। इस दिशा में कुछ काम हम अब भी कर सकते है। हमारा हर मन्दिर, मसजिद या गिरजा सब धर्म वालो के लिए समान रूप से खुला हो। उसमे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म वाले आजादी के साथ जा सकें; वहाँ पूर्वी पच्छमी, काले गोरे, एशियाई, यूरोपियन और अमरीकन आदि का कोई भेदभाव न हो। ऐसा होने पर ही कोई मंदिर वास्तव में परमात्मा का मन्दिर कहा जा सकता है।

धर्म कहता है कि मनुष्य ईश्वर (ब्रह्म) का अंश है और मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मत्व को प्राप्त करना है। हमारे लिए यह विशाल संसार ईश्वर का ही रूप है, जिसमें अनेक जातियो, अनेक धर्मों और अनेक रंगो के लोग रहते हैं। जब तक हम उन सब को अपनाने यानी अपना समझने में समर्थ नहीं होते, जब तक हम किसी भी वर्ग या समूह के लोगों को पराया या ग़ैर मानते हैं, तब तक हम ब्रह्म को प्राप्त करने की ओर नही जा सकते। परमात्मा का व्यक्त रूप मानव जाति है, धर्मात्मा बनने का सच्चा मार्ग मानव जाति से प्रेम करना, सब के साथ सहानुभूति रखना, भेद-भाव का विचार मन से दूर करके सबका भला चाहना, और सब की सेवा के लिए तत्पर रहना है।

निस्सन्देह ईश्वर के निकट पहुँचने और उसकी सच्ची भक्ति करने का तरीका यही है कि हम आदमियों की सेवा सहायता करें, भूखे नंगों को खाना कपड़ा दें, और रोगियों की सेवा सुश्रुषा करें। आगे की पंक्तियाँ* कितनी शिक्षा देने वाली हैं मोहम्मद

*'विश्ववाणी' जून १९४१

साहब ने एक बार कहा—मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—'ऐ मनुष्य के बेटे ! मै बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया।' मनुष्य कहेगा—'ऐ मेरे रब्बा ! मै तुझे देखने कैसे आसकता था। तू तो सारी दुनिया का मालिक है।' अल्लाह जवाब देगा—'क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरा अमुक बन्दा बीमार था ? और तू उसे देखने नहीं गया। क्या तुझे मालूम नहीं था कि यदि तू उसे देखने जाता तो निस्सन्देह मुझे उसके पास पाता ?'

पूर्ण भक्ति भाव से तन्मय होकर सेवा करनेवाले महान पुरुषो और स्त्रियो से समय समय पर ससार को बहुत लाभ पहुँचा है। एक ताज़ा मिसाल मिस मेरी रीड की है। ये एक अमरीकन महिला थीं। इन्होने सन् १८९१ ई० में चंडग (अलमोरा) के कुष्ठाश्रम यानी कोढ़ियो के अस्पताल का काम संभाला। एक दो नहीं, दस, बीस नहीं, पूरे बावन वर्ष इन्होंने कोढ़ियो की सेवा की। सैकड़ो स्त्री पुरुषो को इन्होने आशा और सुख प्रदान किया। ८ अप्रैल १९४३ को ८८ वर्ष की उम्र में इनका देहावसान हुआ। इन्होंने अपनी दोनों मातृभूमियो (अमरीका और भारतवर्ष) की शोभा बढ़ायी। जुदा जुदा देशो के बीच में जो खाई बनी हुई हैं, उन पर पुल बाँधने के लिए हर देश के निवासियों में मिस मेरी रीड की भावना भरी होनी चाहिए।

विश्व-राज्य चाहता है कि ऐसे महान पुरुष और स्त्रियाँ अधिकाधिक तादाद में हो, जो दूसरो की सेवा सच्चे प्रेम और निस्स्वार्थ भाव से करें—सेवा करने में वे अपने दिलों को देश, जाति, रग या सम्प्रदाय की दीवारों के अन्दर बन्द न रखें; मानव जाति और विश्व भर को समान दृष्टि से देखें। यही सच्चा धर्म है, और, यही विश्व-धर्म है।

प्राचीन काल में इस धर्म का पालन करना इतना आसान न

था। यद्यपि हर धर्म ने विश्वबन्धुत्व, मनुष्य मात्र के भ्रातृभाव, बसुधैवकुटुम्बकम् आदि का आदर्श हमारे सामने रखा और इस भावना का प्रचार किया, और इससे उसके अनुयाइयों मे उदारता भी आयी, पर उस समय आने जाने के साधनो की कमी थी, लोगो का जीवन छोटे छोटे समूहो में बँटा था, एक आदमी अपने गांव या नगर-राज्य से बाहर के आदमियों से वास्ता न रखता था, और अगर यह मालूम भी हो जाता कि उन्हें हमारी सहायता की ज़रूरत है तो भी काफी साधन न होने के कारण सहायता देना कठिन था। अब विज्ञान ने दूर दूर के आदमियो को एक दूसरे के नज़दीक कर दिया है, अमरीका वाले अगर चाहे तो चीन, भारत या अफ्रीका आदि के आदमियो की खूब सेवा कर सकते है। इसी तरह भारतवासी विश्व-शांति और भाईचारे का सदेश देश देश मे पहुँचा सकते है। विज्ञान ने धर्म-प्रचार की बाधाओं को दूर करके विश्व-धर्म का मार्ग और अधिक प्रशस्त कर दिया है। यह ज़रूरी है कि आदमी विज्ञान का दुरुपयोग न करे। विज्ञान की सहायता से अब मनुष्य ज्यादह आसानी से विश्व-धर्म का अनुयायी हो सकता है।

छबीसवाँ अध्याय

विश्व-अर्थनीति

आदमी अपनी हालत और ज़रूरतों के अनुसार अपनी रीति नीति आदि में परिवर्तन या सशोधन किया करता है। हमे देखना है कि जबकि हमारी बदलती हुई परिस्थिति हमें विश्व-सघ बनाने को मजबूर रही है तो आर्थिक क्षेत्र मे हमारी नीति क्या

होगी, या क्या होनी चाहिए।

यदि कुल, मानव जनता की दृष्टि से विचार करें तो संसार में भोजन वस्त्र और दूसरी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सामान की कोई कमी नहीं है। इस समय पृथ्वी की कुल आबादी सवा दो सौ करोड़ है, और खाने पीने आदि का सामान इनसे दुगने आदमियों के निर्वाह लिए काफी है। यदि वैज्ञानिक साधनो का ठीक उपयोग किया जाय, और पूँजीवादी अपने और नफे के लिए। और साम्राज्यवादी अपने युद्धों में। बहुत सी सामग्री नष्ट न करें तो पृथ्वी की पैदावार इस समय की आबादी के आदमियो के लिए खूब काफी हो सकती है। यही बात जगह की है। आस्ट्रेलिया का फैलाव तीस लाख वर्ग मील है —हिन्दुस्तान से बहुत अधिक; और वहाँ की आबादी सत्तर लाख से भी कम। इस पर भी आस्ट्रेलिया वाले बाहर वालो को अपने यहाँ नहीं रहने देते। फिर ससार मे बहुत से आदमियो को जगह की कमी हो तो क्या आश्चर्य! जब हर राज्य केवल अपने ही भले और ऐश्वर्य की बात सोचे, और बलवान अपनी ज़रूरतो से अधिक जगह और सामग्री पर अधिकार जमाये तो सब का निर्वाह कैसे हो!

एक मिसाल लीजिए। एक घर में दस आदमी हैं, यदि सब मिल कर रहे तो सब के लिए काफी से ज्यादह जगह है, भोजन वस्त्र आदि सामान की भी कोई कमी नहीं। खूब आराम से सब का निर्वाह हो सकता है। परन्तु जब हर एक आदमी अपने निजी सुख और सुविधा की सोचता है, भोजन अलग बनाना चाहता है, और उसके लिए रसोई-घर भी अलग रखता हैं, नहाने धोने के लिए अलग कमरा रखता है, और उसमें अलग पानी का नल लेता है, तो ऐसी बातों से

कितनी असुविधा होगी, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। घर जायदाद आदि का बँटवारा होने पर गृहस्थों की हालत की कितनी खराब हो जाती है, यह समय-समय पर अनुभव होता रहता है।

यही बात राज्य की है। नगर-राज्यो से तरक्की करके हम राष्ट्र-राज्यो पर आये। पर हमारी पुरानी संकीर्णता ने हमारा पिंड न छोड़ा। विज्ञान ने उन्नति की, मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का परिचय मिला। परन्तु मनुष्य का हृदय उसके साथ न बढ़ा, वह प्रगति मे पीछे रह गया। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है, हर आर्थिक क्षेत्र में कुव्यवस्था है, मानव जाति भयकर कष्ट उठा रही है। इसका अन्त करना आवश्यक है।

अर्थनीति के मुख्य भेद ये है—(१) उपभोग या खपत, (२) उत्पत्ति या पैदावार, (३) विनिमय, व्यापार और मुद्रा,(४) वितरण या बँटवारा। पहले खपत के सम्बन्ध मे विचार करें।

खपत——आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश अर्थशास्त्री पैदावार पर तो खूब विस्तार से लिखते है, पर खपत की चर्चा बहुत कम करते हैं—यद्यपि खपत और पैदावार मे, कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य तरह तरह के पदार्थो का उपभोग करना चाहते है, इसीलिए उन्हे पैदा किया जाता है। जिन चीजो का आदमी इस्तेमाल नहीं करते, उन्हे पैदा भी नहीं किया जाता। इससे खपत का महत्व साफ ज़ाहिर है। परन्तु जब कि चीज़ो को पैदा करने के उपाय सोचने के लिए बहुत मेहनत की जाती है, खपत के उद्देश्य और विधि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अध्ययन किये बिना ही लोग अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझ लेते हैं। अनेक

आदमी थोड़ी देर के स्वाद के लिए खट्टी, मीठी, चटपटी, मसालेदार चीजें खाते है, चटकीले, भड़कीले वस्त्र पहिनते है जो उनकी तन्दरुस्ती के लिए हानिकर होते हैं। कितने ही युवक या विद्यार्थी अपनी दूसरी ज़रूरतो को पूरा करने मे कजूसी करते हुए भी सिनेमा, नाटक आदि मे पैसा लुटाते रहते है; बहुत से मजदूर अपना और अपने परिवार का पेट काट कर मादक वस्तुओ के उपभोग मे, अपनी गाढ़ी कमाई का खासा भाग नष्ट कर डालते हैं। स्त्रियाँ मेले तमाशो मे जाकर चटक-मटक की निकम्मी चीजें खरीद लाती है, फिर चाहे गृहस्थी की दूसरी ज़रूरतें पूरी हो या न हो, या उनके लिये ऋण लेना पड़े। इससे हमारी खपत सम्बन्धी अविवेकता स्पष्ट है।

आजकल आदमी खपत का उद्देश्य विषय-सुख और विलासिता मानते है। विषय-सुख का मतलब यह है कि इस समय सुख मिल जाय, चाहे पीछे उससे कष्ट ही क्यो न हो। इसके लिए गरीब लोग अपने खाने पीने मे तगी करके फैशन और शौकीनी मे फस जाते हैं। आज कल जनता में प्रायः यह विचार-धारा फैली हुई है कि नित्य नयी आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए। यही कारण है कि अनेक मादक और दूसरे अनावश्यक और अनुपयोगी पदार्थो की माँग बढ़ती जाती है—शराब, तमाखू, चाय, कहवा, अफीम, पान, तरह-तरह के मसालो आदि का संसार भर में बहुत अधिक इस्तेमाल किया जाता है। कितनी भूमि, कितना श्रम, कितनी पूँजी इनकी पैदावार मे लगती है! इसका नतीजा होता है, जनता के स्वास्थ्य, शक्ति, और आयु का ह्रास। अगर आदमियों का रहन सहन सादा हो, उनकी ज़रूरतें कम हों तो वे उस हानि से सहज ही बच सकते हैं, जो विषय-सुख के लिए उठानी पड़ती है।

जब विषय-सुख के कारण आदमी ऐसी चीज़ को पसन्द करता है, जो बहुत कीमती हो तो उस उपभोग को विलासिता कहते हैं। ऐसा उपभोग धनवान लोग करते हैं। कीमत अधिक होने से साधारण वस्तु भी विलासिता की वस्तु बन जाती है। भारतवर्ष में आम को साधारण फल माना जाता है, लेकिन जब इंगलैण्ड के आदमी उसे अपने यहाँ मगाते है तो उसकी कीमत बहुत बढ़ जाती है। धनवान लोगो को कीमत की क्या परवाह! वे ऐसे पदार्थों के उपभोग मे ही अपनी शान समझते है, जो दूर देशो से आते हों, जो बेमौसमी हो. जो मंहगी होने के कारण आम लोगों को सुलभ न हों। इगलैण्ड अमरीका आदि की तो बात ही क्या, भारतवर्ष मे कितने ही खाने पीने तक के पदार्थ दूर देशो से डिब्बों में वैज्ञानिक प्रद्धति से रखे हुए आते हैं। यहाँ विवाह शादी आदि अनेक दावतों मे चालीस चालीस तरह के पदार्थ देखे गये है। पहनावे का भी विषय कम चिन्तनीय नहीं। एक एक साड़ी या सूट कई कई सौ रुपये तक के होते है। शौकीन धनी लोगो के साज शृङ्गार का क्या ठिकाना! उनका अधिकतर समय है ही किस बात के लिए! बहुत सी जगह लोगों के भोजन और कपड़े के लिए बेशुमार प्राणियों की हर रोज हत्या की जाती है, और कितने ही आदमी केवल इस काम में लगे रहते है कि वे अपने यहाँ के या दूर दूर के थोड़े से विलासिता-प्रेमियो की जीभ के स्वाद या उनकी सजधज के लिए पशु पक्षियों को मारते रहे।

हमें खास विचार यह रखना चाहिए कि चीज़ो के इस्तेमाल से हमें अधिक से अधिक टिकाऊ सुख, संतोष और तृप्ति मिले। इस लिए हमें विषय-सुख और विलासिता के पीछे न पड़ना चाहिए। दिखावे, शौकीनी या फैशन की चीज़ो का इस्तेमाल

छोड़ दिया जाय, और ऐसी चीज़ो का इस्तेमाल भी जहाँ तक हो कम किया जाय, जिनसे हमारी कार्य-कुशलता तो कम बढ़ती है और खर्च बहुत अधिक होता है, जैसे मामूली मज़दूर के लिये साइकल। कुछ चीज़ों का इस्तेमाल अनावश्यक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से किया जाता है, जैसे विवाह-शादी और जन्म-मरण सम्बन्धी बहुत सा खर्च। इसे जहाँ तक हो घटाने की कोशिश करनी चाहिये। मादक पदार्थों का सेवन आदमी देखा देखी करने लगते हैं; फिर उनकी आदत पड़ जाती है। हर देश में सरकारी और ग़ैर सरकारी प्रयत्न ऐसा होता रहना चाहिए कि नागरिको की आदतें बचपन से ही अच्छी पड़ें, और इन बातो मे धन नष्ट न हो।

सारांश यह कि आर्थिक आवश्यकताओं पर रोक थाम रहनी चाहिए। जीवन-रक्षा और निपुणतादायक पदार्थों का उपयोग काफी किया जाना चाहिए, बनावटी चीज़ो का इस्तेमाल कम करना चाहिए। हम दूसरो के हित की अवहेलना न करें, समाज मे सब को सुखी बनाते हुये हम सुखी रहे।

उत्पत्ति या पैदावार—ऊपर बताया जा चुका है कि बहुतसे आदमियो के रहन-सहन मे दिखावा, कृत्रिमता या शौक़ीनी अधिक होती है। उन्होंने अपनी ज़रूरतें बहुत बढ़ा रखी है। इसलिये राष्ट्रो कीबहुत सी ताकत ऐसी चीज़ें पैदा करने में लगती है, जो ज़रूरी या उपयोगी नहींहोतीं। आदमियो के जीवन मे समय और सादगी हो तो यह ताक़त बचाई जा सकती है, और इससे दूसरे हितकर या फ़ायदे के काम किये जा सकते हैं।

ख़ासकर इस समय विविध राष्ट्रों के आपस में मुकाबले या

प्रतियोगिता के कारण पैदावार के काम मे बड़ी बाधा पड़ रही है। कितने ही देश ऐसी ऐसी चीज़ें बनाने की फिक्र में रहते हैं, जिनके लिए उनके पास कुदरती साधन या सुविधाएँ नहीं होतीं। मिसाल के तौर पर इगलैण्ड और जापान कपड़े का धन्धा चलाते हैं, हालाँकि उनकी हद मे या उनके नज़दीक के किसी देश मे भी रूई पैदा नही होती, स्काटलैण्ड जूट की बोरियाँ बनाता है, और वह जूट बंगाल (भारतवर्ष) जैसे दूर के देश से मंगाता है। आज दिन ससार की इस अर्थ-व्यवस्था मे कोई ठीक क्रम या योजना नहीं है। हर राष्ट्र को गरम देशो से कच्चा माल झपट लेना है, और अपनी पूँजी लगाने के लिये नये नये बाज़ार या मडियाँ ढूढ़नी है, और इसलिए उसे उपनिवेश और अधीन राज्य प्राप्त करने है। कभी कभी कुछ चीज़ो की ज़रूरतसे ज्यादह पेदावार हो जाती है. और मूल्य गिर जाता है। कभी आदमियो को चीज़ो की कमी और महगायी का कष्ट उठाना पड़ता है। पैदावार केवल नफे के लिये की जाती है। अगर किसी चीज़ के पैदा करने में नफा नहीं रहता तो उसे बनाया ही नहीं जाता, चाहे वह कितनी ही ज़रूरी क्यो न हो। अक्सर दूर दूर के धनी लोगो के लिए विलासिता का सामान तैयार किया जाता है, जबकि देश के ग़रीब आदमी ऐसी चीज़ो के लिये भी विलखते रहते हैं, जो जिन्दगी क़ायम रखने के लिए ज़रूरी हैं। उत्पत्ति के लिए आवश्यक होने पर भी पूँजी हमेशा अपने स्थान पर नहीं ठहरती; जब उसे दूर देशों से नफे की गन्ध आती है, वह वहाँ की सस्ती और असङ्गठित मज़दूरी से लाभ उठाने के लिए उड़ जाती है।

मौजूदा हालत में कई कोठियाँ या कम्पनियाँ एक ही चीज़ तैयार करती हैं। इसका नतीजा होता है—प्रतियोगिता या

मुक़ाबला, सामान की बरबादी, ऊपरी खर्च का बढ़ना, कभी रोज़गार की भरमार और कभी रोजगार की इतनी कमी कि बेकारी फैल जाय; बेईमानी का व्यवहार, झूठ, विज्ञापनबाज़ी, मिलावट, आर्थिक संघर्ष और सकट, मुकदमेबाज़ी, धोखेबाज़ी, निराशा और आत्महत्या। पूँजीपति अपने नफे के वास्ते कोकेन और अफीम पैदा करते है जिनसे लोगो का स्वास्थ्य नष्ट होता है; वे युद्ध का सामान बड़े पैमाने पर तैयार करने मे संकोच नहीं करते, जिससे राष्ट्रों के जन धन का नाश होता है।

इन सब बातो का अन्त होना चाहिए। हमे केवल उन्हीं चीज़ो की उत्पत्ति करनी चाहिए जो समाज के लिए हितकर हो; हमे अपना हित सारे समाज के हित से अलग न समझना चाहिए। यही नही; ज़रूरत है कि अधिकाधिक आदमी अपने निजी स्वार्थ को छोड़ कर अपनी मेहनत, पूँजी या भूमि का लाभ मानव समाज को पहुँचावें; वे ऐसी चीज़ें बनायें, और ऐसे आविष्कार या अनुसधान करें जिनसे चाहे उन्हे कुछ आमदनी न हो पर समाज की मौजूदा ज़रूरतें पूरी हो। अनेक देशो में थोड़े से साधु-सत, महात्मा, लेखक, शिक्षक, चिकित्सक आदि अपना जीवन मानव समाज के अर्पण करते रहते है; अच्छा हो, हम अपने सब साधन विश्व-राज्य को सौप दें, और विश्व-राज्य के निरीक्षण और नियंत्रण मे समस्त मानव समाज की ज़रूरतों को नज़र मे रख कर माल पैदा किया जाय; संसार भर के खेतो, बगीचो, खानों, जंगलों, और कारख़ानों आदि का प्रबन्ध व्यापक दृष्टि से हो, जिस से सभी नागरिकों को भोजन वस्त्रादि मिले, जिसके लिए आज दिन करोड़ों आदमी चिन्तित रहते हैं, और जिसे कितने ही पर्याप्त मात्रा में नहीं पासकते।

उत्पादन में सहकारिता के सिद्धान्त का ज्यादह से ज्यादह

उपयोग किया जाय। बिजली आदि की शक्ति खूब बड़े परिमाण में पैदा करके उसे जगह जगह पहुँचाया जाय। ऐसा होने पर बड़े बड़े कारखाने कायम करने की ख़ास ज़रूरत न रहेगी: मज़दूरो के तग, गदे अस्वास्थ्यकर स्थानो मे रहने, धन के बँटवारे की विषमता, नगरो की संख्या और उनकी आबादी बढ़ने आदि की समस्याएँ पैदा न होंगी, छोटे छोटे घरेलू उद्योग धंधो के बढने और फैलने के लिए मैदान बढ़ेगा, और दुनिया के सब आदमी स्वतंत्रता पूर्वक अपना काम करते रहेंगे।

विनिमय और व्यापार—यहां तक हमने चीज़ों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। जो माल पैदा किया जाय, उसे लोगों को उचित मूल्य में और शुद्ध रूप में देना. जिससे उन्हें किसी तरह का धोखा या हानि न हो, और उनकी आवश्यकताओ की अच्छी तरह पूर्ति हो, कुछ कम महत्व का काम नहीं है। यह एक बड़ा सेवा-कार्य है। पर आज-कल की अवस्था में व्यक्तियों के समान राष्ट्र भी इस दिशा मे अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे अपने अपने स्वार्थ-साधन मे लगे रहते हैं। व्यापार के नाम पर धोखाधड़ी और लूट-खसोट होती रहती है। माल बेचने वाले आदमी दूसरे लोगो को तरह तरह से धोखा देते हैं, उसी तरह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो की आँखों में धूल झोंकने में कुछ बुराई नहीं समझते। हर राष्ट्र चटकीला भड़कीला, कम टिकाऊ, माल तैयार करके दूसरे देशो का धन अपहरण करना चाहता है। वह दूसरे देश वालों को शौक़ीन, नशेबाज़ और लड़ाकू बनाने में ही अपना लाभ समझता है, क्योंकि इस तरह वह उनके हाथ अपनी विलास-सामग्री, मादक पदार्थ और शस्त्रास्त्र बेच सकता है।

इस समय राष्ट्रों को दूसरो के हिताहित से कुछ प्रयोजन नहीं।

हर राष्ट्र अपने पड़ोसी का कुछ विचार किये बिना ही अपने आपको धनवान बनाने की कोशिश करता है। यदि वह दूसरो के बारे मे कुछ सोचता है, तो उन्हे गरीब बनाने, और उन्हे चूसने की ही बात सोचता है। हर राष्ट्र औद्योगिक और उन्नत विदेशो से आने वाले माल पर टैक्स बैठाता है, जिससे उसकी 'विदेशी' बनी वस्तुओ को सरक्षण मिले; इस तरह वह व्यापार के स्वतंत्र क्रम मे बाधा डालता है। हर राष्ट्र अधिक से अधिक माल दूसरे देशो के हाथ बेचता है, और दूसरों का कम से कम खरीदता है। कोई यह नहीं सोचता कि यदि सभी माल बेचने वाले हों, तो खरीदेगा कौन! बेचने और खरीदने का संग-साथ है, परन्तु इन राष्ट्रों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। ये अपनी माल बेचना चाहते हैं, दूसरे का खरीदना नहीं चाहते। यह स्वार्थपूर्ण नीति साम्राज्यवाद की सगी बहिन है, जिसका नतीजा यह है कि युद्ध, महायुद्ध और विश्व-युद्ध होकर रहते है। इस विषय मे पहले भी लिखा जा चुका है।

विनिमय और व्यापार के सिलसिले में मुद्रा या सिक्को के बारे में भी कुछ विचार होना जरूरी है। जब कि राज्य छोटे-छोटे हो, और हर राज्य का अपना अलग सिक्का हो तो व्यवहार में कितनी कठिनाई होती है, यह सब जानते है। एक यात्री ज्यों ही अपने राज्य की सीमा पार करके दूसरे राज्य मे दाखिल होता है, उसे अपने सिक्को का विनिमय दूसरे राज्य के सिक्को में कराना होता है; तब ही वह वहाँ जरूरी चीजें खरीद सकता है। इस राज्य से आगे बढ़ने पर फिर उसके सामने सिक्के की समस्या खड़ी होती है। ऐसे राज्यो के व्यापारियों और सरकारों को भी निरंतर मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि इन सब राज्यों का एक संघ बन

जाय या सब राज्य एक बड़े राज्य के अंग बन जायँ तो यह कठिनाई हट जाती है। भारतीय पाठक अपने देश की मिसाल से इस विषय को भली भांति समझ सकते है। यहाँ कुछ देशी राज्य अपना अलग सिक्का रखते हैं, फिर भी सब अपने यहाँ अंगरेजी रुपये को वही स्थान देते है, जो उसका ब्रिटिश भारत मे है। इस से देश भर के सब आदमियो को अपने लेन-देन या क्रय-विक्रय का सुविधा रहती है फिर, आजकल कागजी मुद्रा का चलन बढ़ जाने से रुपये आदि का उपयोग बहुत ही कम रह गया है। अधिकांश काम नोटो से जाता है। हां. जब हिन्दुस्तान को किसी दूसरे देश का रूपया देना लेना होता है तो यह काम सोने के पौडो से किया जाता है, जो प्रामाणिक स्टेडर्ड सिक्का होने के कारण दूसरे देशो के सिक्को से बदला जा सकता हैं।

एक राज्य चाहे जितना बड़ा हो, उसमे मुद्रा की विभिन्नता से होने वाली कठिनाइयां नहीं रहती। कुछ राज्यो के आपसी समझौते से भी समस्या हल हो जाती है। पाठक नीचे लिखा समाचार पढ़ें, यह जनवरी १९४४ में प्रकाशित हुआ था; इसका शीर्षक था, 'अमरीका मे छपे हुए नोट' —

"आर० एल० स्टिफेन्स लिखते है कि यह बात अब प्रकट की गई है कि संयुक्तराज्य अमरीका मे बहुत से स्वतंत्रता. 'फोर फ्रीड्म नोट्स' छापे गए है। चार स्वतंत्रताओ—भाषण-धार्मिक स्वतत्रता, अभाव से स्वतत्रता और भय से स्वतत्रता—के प्रतीक ये नोट विभिन्न देशो मे भेजे जाने के लिए अमरीका मे जमा है। जिस देश में इस्तेमाल के लिए ये नोट भेजे जायंगे उन पर उस देश का नाम अंकित रहेगा। एक ही तरह का नोट विभिन्न देशों में इस्तेमाल होगा। यह फरक होगा कि किसी पर

लिखा रहेगा—'फ्रान्स में जारी किया गया', और किसी पर रहेगा—'नारवे में जारी किया गया' इत्यादि। नोटों पर लिखा रहेगा—'एलाइड मिलिटरी करेन्सी' जिसका अर्थ हुआ मित्र राष्ट्रों के सैनिक नोट। चारों तरह की स्वतंत्रताओं का नामोल्लेख पुश्त के चार कोनो पर किया रहेगा। ये नोट खास कर सेना के लिए होंगे।"

इससे पाठको को विश्व-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुमान करने मे बहुत कल्पना शक्ति लगानी नही पड़ेगी। ये नोट अमरीका मे छपे हैं, भावी नोट विश्व-राज्य की राजधानी मे छपेंगे, जिसके सम्बन्ध में हमने अपना विचार दूसरी जगह प्रकट किया है। इन नोटों का नक्शा उस समय के कलाकार तय करेंगे। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक ही तरह के नोट ससार भर मे चलेंगे। उन में यह फ़रक तो होगा कि जिस जिस देश में वे काम आवेंगे, उस उस का नाम उन पर अंकित रहेगा, पर उस समय के देश (विश्व-राज्य के प्रान्त) बड़े बड़े होंगे। इन नोटो पर चार स्वतंत्रताओ की बात छपी हैं, किन्तु आजकल की व्यवस्था के अनुसार इन शब्दों का अर्थ सब देशों की जनताओ के लिए बराबर नहीं है, यह स्वतंत्रताएँ केवल गोरे रंग वालों के लिए, या प्रबल राष्ट्रो या उनके साथियों के लिए हैं, दूसरे राष्ट्र इनसे वंचित हैं। भावी नोटों के समय यह हालत न रहेगी। सम्भव है उनमें एक तरफ बीच मे एक शब्द 'मानवता' अंकित रहे, और दूसरी ओर चार कोनों पर लोकतंत्र, आज़ादी, बराबरी और बंधुत्व छपा रहे, जो विश्व-राज्य के चार आदर्शों के प्रतीक हों। इन नोटों पर जो 'मित्र-राष्ट्रों के सैनिक नोट' छपा है, वह उस समय अनावश्यक हो जायगा, क्योकि वे नोट संसार भर के सब देशों के निवासियो के लिए होंगे, और वे सभी आपस में मित्र होंगे, शत्रु या अमित्र कोई होगा ही नहीं।

फिर, जनता अहिन्सा का व्यवहार करने वाली होगी, और उसे सैनिकों की ज़रूरत न रहेगी। इसलिए वे नोट इन नोटों की भांति खासकर सेना को देने के लिए न होकर सारी जनता के व्यवहार के लिए होंगे।

बँटवारा—बँटवारे का मतलब धनोत्पत्ति के विविध साधनो के मालिकों में उनकी आमदनी या प्रतिफल बाँटना है। इस समय भूमि वाले को लगान, मेहनत करने वाले को वेतन या मज़दूरी, पूँजी वाले को सूद, और व्यवस्था करने वाले को मुनाफा मिलता है। आजकल की अवस्था मे भूमि, पूँजी और व्यवस्था तीनो का अधिकारी एक वर्ग है, और दूसरे वर्ग के पास केवल अपनी मेहनत रहती है। भूमि और पूँजी पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होने से धन के बँटवारे मे बड़ा अनर्थ हो रहा है। ज़मींदार, तालुकेदार, पूँजीपतियो और कारखाने वालों के अनुचित कारनामे और अन्याय जग-ज़ाहिर हैं। बड़े बड़े धर्मात्मा बनने, दान पुण्य करने और हरिकीर्तन कराने वाले साहूकारो के यहाँ जगह जगह चरबी के घी का व्यापार होते पाया गया है। उन्हे कसाईखाने और वेश्यालय चलाने में भी कोई संकोच नहीं होता। वे गरीब विधवाओ, बेकारों और मज़दूरों से गंदे और तङ्ग मकानों का भी किराया खूब कसकर वसूल करते हैं। वे अपने खराब जहाजों को इसलिए चलता कर देते हैं कि उन्हें बीमे की भारी भारी रक़में मिल जायँ, बेचारे नाविकों की जान भले ही जाय।* वे लगान या कर्जे की क़िस्त न चुका सकने वाले

*ऐसी भी घटनाएँ सुनने मे आयी हैं कि पुरुष ने अपनी स्त्री का एक भारी रक़म का बीमा करा दिया, और पीछे कुछ रहस्यपूर्ण उपायो से उसे मरवा दिया, जिससे बीमे की रक़म अनायास ही मिल जाय।

गरीब किसानों की फ़सल और पशु तक नीलाम करवा डालते हैं। वे हज़ारों और लाखों मज़दूरों को सता सता कर उनसे इतना अधिक काम लेते हैं कि वे बेचारे जल्दी ही अपनी जान से हाथ धो डालते हैं। वे अपनी सरकारों को राष्ट्रीय युद्ध के समय रुपया भी, सूद की निर्धारित दर पर, उधार देते हैं, जब कि उनके कितने ही देश-बन्धु अपनी जान होम देते हैं। वे दूसरे देशो को खुले आम या लुक छिप कर हथियार और दूसरी युद्ध-सामग्री बेचते हैं, चाहे वे यह भी जान लें कि शस्त्रास्त्र ख़रीदने वाला देश निकट भविष्य में उनके ही राष्ट्र से युद्ध छेड़ने वाला है।

इस तरह का पूँजीवाद मानव जाति की बहुत सी योग्यता और प्रतिभा का अपहरण करता और सभ्यता की प्रगति को रोकता है। आज कल साहित्य, विज्ञान या कला आदि की उच्च शिक्षा पाने के लिए रुपया ज़रूरी है, योग्यता या बुद्धि नहीं। पैसे वाले परिवारों के बालक कूढ़मगज होते हुए भी दूर दूर के विश्व-विद्यालयों में पहुँचते हैं, और निर्धनों के हज़ारों होनहार लड़के ऐसे अवसरों से वंचित रहते हैं। प्रकृति देवी अच्छे अच्छे मस्तिष्क बहुत काफी तादाद में पैदा करती है, पर पूँजीवाद उनमें से बहुत कम का उपयोग होने देता है। इस तरह यह पद्धति आध्यात्मिक और मानसिक हत्या की दोषी है।

पूँजीवाद समाज की आर्थिक ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकता। इसका फल व्यापक बेकारी होती है। संयुक्तराज्य अमरीका नया महाद्वीप है; वहाँ भूमि और मेहनत दोनों सुलभ हैं। यह आशा की जा सकती है कि वहाँ लोगों को रोटी

कपड़े की कमी न होगी। परन्तु पूँजीवाद ने प्रकृति के इस भंडार को भी बेकारों और भूखो की बस्ती बना डाला है। वहाँ की बेकारो की तादाद डेढ़ पौने दो करोड़ तक पहुँच जाती है। *

लाखों नागरिक इतनी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हैं कि उनकी मामूली ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पाती, या उन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उन्हे राज्य की ओर से कायम किये हुए दरिद्रालयों ('पूअर-हाउस') या समाज के दान धर्म आदि का आसरा तकना पड़ता है। इस तरह दूसरो को चूसने वाली श्रेणी के आदमी मज़दूरों और किसानों की मेहनत पर फलते फूलते रहते हैं; उनमें से कुछ की आमदनी तो अपने श्रमजीवी भाइयों से हज़ारों गुनी होती है। पाठक किसी भी देश में मिल-मालिकों और मज़दूरों की आमदनी की तुलना करके देख सकते हैं।

इस विषमता और शोषण का नतीजा यह होता है कि जब कि मुट्ठी भर आदमी विलासिता और ऐयाशी का जीवन बसर करते हैं, अधिकांश जनता घोर दरिद्रता और गंदगी में दिन काटती है। श्रमजीवियों के परिवार, उनकी स्त्री बच्चे कैसे तंग और अंधेरे मकानों मे गुज़र करते हैं, सर्दी से बचने के लिए उनके पास कितना कम सामान होता है, उनका भोजन कितना अशुद्ध, मिलावटदार, और घटिया होता है, और इन बातो के फल स्वरूप उन्हे किस तरह एक के बाद दूसरे भयंकर

---

* यह बात उस देश की है, जो स्वाधीन है, फिर भारतवर्ष जैसे पराधीन देशों में इस तरह के पूंजीवाद से कितनी हानि हो सकती है, यह आसानी से समझ में आ सकता है।

रोगों का शिकार होना पड़ता है, यह यहाँ विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं। उनकी हालत किस्से कहानियो की कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक है।

आजकल की आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्तियो के ही भ्रातृभाव और समता को नष्ट नहीं कर रखा है, राज्यो मे भी विषमता का भयकर प्रचार कर रखा है। कुछ राष्ट्रो का बड़े बड़े उपनिवेशो और अधीन देशो पर अधिकार है। वे उनके धन से बहुत अधिक धनवान हो गये है। कुछ राष्ट्र अपनी प्राकृतिक सुविधाओ के कारण भी सम्पत्तिवान होते हैं। इसके विपरीत, दूसरे देश अपनी भौगोलिक प्रतिकूलता से, या दूसरे राष्ट्रो से चूसे जाने के कारण बहुत अधिक निर्धन है। ससार धनी और निर्धन देशो मे बँटा हुआ है। एक देश में हर आदमी की औसत सालाना आमदनी ६००) रु० या इससे अधिक है, और दूसरे देश मे सिर्फ चालीस रुपये। यह कैसी घातक विषमता है!

धन के बँटवारे के सही सिद्धान्त समानता और बंधुत्व है। समानता का अर्थ यांत्रिक या कृत्रिम समानता नहीं है, जैसे सब की बराबर आमदनी हो। सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि सब को अपना व्यक्तित्व अपने उच्च आदर्श के अनुसार विकसित करने का, और जैसा सुखमय और पूर्ण जीवन व्यतीत करने के वे योग्य हों वैसा जीवन बिताने का, समान अवसर मिले। परिवार में इस नियम का पालन होता है; हर बालक, बालिका को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र और शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। इसी तरह हर व्यक्ति को राज्य से अपने विकास के लिए सब ज़रूरी चीजें और मदद मिलनी चाहिए।

पिछले वर्षों की आर्थिक स्थिति ने सब देशो में आजकल की

पूँजीवादी पद्धति की व्यर्थता और बेहूदगी अच्छी तरह साबित कर दी है। ब्राजील से कहवा और अंगरेजी बन्दरगाहों से संतरे और मछलियाँ नष्ट करने का समाचार आता है। संसार में करोड़ों लोगो को भर पेट भोजन न मिलते हुए भी अरीका में गेहूँ की फसल घटाने की कोशिश की जा चुकी है। क्यों? इसलिए कि भाव चढ़ जाय। यह क़ीमत, मजदूरी, और मुनाफे के दाव पेंच हमें कहीं का न छोड़ेंगे। इस आर्थिक विषमता को दूर करना ही होगा।

बर्तमान पूँजीवाद का अन्त कैसे हो? पहले बताया जा चुका है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ास दोष यह है कि इसमें पैदावार केन्द्रित हो जाती है; पैदावार के साधनो के स्वामी राष्ट्र के कुछ इने गिने व्यक्ति होते हैं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था का अन्त करने के दो ही उपाय हैं—(१) छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों को बढ़ाया और फैलाया जाय (२) उत्पादन का काम व्यक्तियों द्वारा न होकर राज्य का स्वामित्व हो। कुछ सज्जन इनमें से पहले उपाय को महत्व देते हैं, कुछ दूसरे को। इस विषय पर बहस करने का यहाँ स्थान नहीं है। दोनों विचार-धाराओ का समन्वय हो सकता है, और गृहोद्योगवाद और समाजवाद दोनों का ठीक ठोक उपयोग करके आजकल के पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है। विश्व-अर्थनीति के लिए यह करना बहुत ज़रूरी है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ का शासन

"स्वराज्य उसको कहते हैं जिसमें बहुत मनुष्यों की सम्मति से राष्ट्र का पालन किया जाता है और जिसका राज्य-शासन उदार और व्यापक वृत्ति से चलाया जाता है। इस स्वराज्य-शासन के लिए विशाल दृष्टि वाले, सब के साथ मित्रवत् व्यवहार करने वाले और दिव्य ज्ञान से युक्त ये तीन प्रकार के लोग ही योग्य हैं।" —ऋग्वेद ५।६६।६

सब से अच्छा राज्य वह है, जिसमे कम से कम शासन हो।

पाठकों को इस अध्याय के पढ़ने में जल्दी न करना चाहिए। इसके लिए उन्हें अपनी मनोभूमि तैयार करनी चाहिए। जिन्हो ने पिछले अध्यायों को ध्यान से पढ़ा है, वे सहज ही उन बातों को समझ लेंगे, जिन पर हमे यहाँ विचार करना है। विश्व-राज्य या विश्व-संघ की बातें सोचने के लिए हमे अपने वर्तमान धरातल से ऊचा उठना चाहिए, और, विश्व-राज्य के योग्य बनने की कल्पना करनी चाहिए। अपने नगर या प्रान्त की तो बात ही क्या, हम किसी भी राज्य या राष्ट्र के नागरिको को पराया या गैर न समझें। हम सब के हितो और उचित स्वार्थों का पूरी तरह ध्यान रखें। इसका यह मतलब नहीं कि हमारा अपने पास वालो के प्रति कुछ कर्तव्य न रहे। मतलब केवल यह है कि हमारा स्थानीय प्रेम (अपने परिवार, जाति, नगर या राज्य का प्रेम) विश्व-प्रेम में बाधक न हो।

विश्व-राज्य की सरकार —विश्व-राज्य की सरकार कैसी

होगी, यानी उसके मंत्रिमंडल के सदस्य, और सभापति (विश्व-पति) कैसी काबलियत वाले होंगे, इस पर विचार करने के लिए यह ध्यान मे रखना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य को कैसे काम करने हैं। आज कल शासन का मतलब दमन, हिन्सा और कूटनीति है, भावी विश्व-राज्य मे उसका मतलब सेवा, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम होगा। विश्व-राज्य अपने नागरिको की शिक्षा और सुधार की तरफ सब से ज्यादह ध्यान देगा। उसका उद्देश्य यही नहीं होगा कि नागरिक ज़िन्दा रहे, बल्कि यह होगा कि वे सुख और शान्ति से रहे। वे ऐसा जीवन व्यतीत करें. जो मनुष्यों के योग्य हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्वाभाविक है कि राज्य के मंत्री और प्रमुख अधिकारी उच्च कोटि के त्यागी और परोपकारी हों, और सब कर्मचारी विवेकी. गम्भीर और वैज्ञानिक। विश्व-राज्य में सब से अधिक योग्यता उस मनुष्य में मानी जायगी, जिसमें यथेष्ट ज्ञान के अलावा सेवा और प्रेम की भावना भरपूर हो। ऐसे लोग नागरिकों के उत्तम और पूर्ण जीवन व्यतीत करने में हर तरह सहायक होंगे।

विश्व-राज्य का शासन लोकतंत्र तो होगा ही, जिसका अर्थ है, जनता का शासन, जनता द्वारा और जनता के लिए। लोकतंत्र से जनता को तरह तरह के नागरिक गुणो का अभ्यास होता है। जानकारी, आज़ादी, आत्म सम्मान, सहिष्णुता, लोकसेवा की भावना, और राजनैतिक निर्णय की शिक्षा के लिए लोकतंत्र सब से अच्छा विद्यालय है। इससे लोगो की बुद्धि का विकास होता है, और उन्हे जनपद या पचायती राज्य के लिए त्याग करने की शिक्षा मिलती है। अच्छे शासन की सब से अच्छी कसौटी धन जन की वृद्धि नहीं है, बल्कि लोगो में चरित्र और व्यक्तित्व है। सब से अच्छा शासन वह है जिससे

पुरुष और स्त्रियाँ सब से अच्छी बनती है। इस नैतिक कसौटी से लोकतन्त्र सब तरह की शासन-पद्धतियों में सब से अच्छा ठहरता है।

लोकतंत्र मे शासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा होता है। चुनाव के तरीके मे इस समय कई दोष हैं, इसलिए लोकतंत्र का असली मतलब पूरा नहीं हो रहा है। इन दोषो के मुख्य कारण ये हैं—(१) धन का गलत बँटवारा; यानी कुछ लोगो का बहुत अधिक धनी होना, और चुनाव मे या कानून बनाने मे गरीब लोगो का मत खरीद सकना। (२) शिक्षा की कमी, खासकर नागरिकता के भावो की कमी, जिससे बहुत से आदमी अपना फर्ज और जिम्मेवारी नहीं समझते। (३) नैतिक भावो की कमी; लोगो मे स्वार्थत्याग और लोक-सेवा की भावना काफी प्रबल न होना; विश्व-बंधुत्व की भावना का विशाल मानव जाति की भलाई के लिए अपने गांव, शहर या राष्ट्र के स्वार्थ की परवाह न करने की तैयारी कम होना। इन बातों पर पहले विचार किया जा चुका है। विश्व-संघ में इस तरह के दोष उसी तरह हट जायँगे; जैसे सूरज के उदय होने पर अँधेरा मिट जाता है।

विश्व-राज्य के हिस्से— विश्व-राज्य में शासन की दृष्टि से हर देश को एक प्रान्त मान लिया जायगा। हिन्दुस्तान, चीन, जापान, इंगलैण्ड, जर्मनी, रूस सब विश्व-राज्य के एक एक प्रान्त होगे। शुरू मे, कोई प्रान्त बहुत बड़ा होगा, और कोई बहुत छोटा। कुछ समय बाद प्रान्तो का नया निर्माण होगा। तब उनका आधार राष्ट्रीयता न होगी, बल्कि आर्थिक या राजनैतिक सुविधा होगी। इस समय के आपस मे लड़ने वाले, कई कई राष्ट्र उस समय आपस में मिल कर विश्व-राज्य का एक एक प्रान्त

बनावेंगे। उस समय बहुत छोटे छोटे राष्ट्रों का प्रान्तो के रूप में भी अलग अस्तित्व नही रह सकेगा, छोटे छोटे टापुओं की तो बात ही क्या। प्रान्तो का नाम और सगठन सुविधा के अनुसार बदल दिया जायगा। हर नागरिक अहंकार भाव छोड़ कर इस विषय पर उदार और व्यापक दृष्टि से विचार करे।

शासन और व्यवस्था—विश्व-संघ का हर प्रान्त खास-कर प्रान्तों प्रान्तों के बीच के सब मामलों में सघ के अधीन होगा। मुख्य सत्ता ('सावरेनटी') संघ की ही होगी। अपने भीतरी शासन में हर प्रान्त स्वाधीन या खुदमुखत्यार होगा। उसे अपने सब नागरिको में मानवता और विश्वबंधुता का प्रचार करना होगा, और दूसरे प्रान्तो से सहयोग का भाव रखना होगा। हर प्रान्त का शासन वहाँ के सब बालिग पुरुष स्त्रियों के वोट (मत) से चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्था-पक सभा के फैसले के अनुसार होगा, और यही प्रान्तीय सभा अपने योग्य त्यागशील सेवा-भावी प्रतिनिधि चुन कर संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के लिए भेजेगी। जिस तरह अब बम्बई, मदरास जैसे प्रान्तों के प्रतिनिधि भारतवर्ष की केन्द्रीय यानी सेन्ट्रल व्यवस्थापक सभा में लिये जाते हैं, वैसे ही तब भारतवर्ष के प्रतिनिधि विश्व-संघ के केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में लिये जायँगे। इस केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में इस समय के प्रान्तों को प्रधानता न दी जायगी। यह नहीं होगा कि पांच करोड़ की आबादी वाले इंगलैण्ड का भी एक प्रतिनिधि हो और चालीस करोड़ वाले हिन्दुस्तान या पैंतालीस करोड़ वाले चीन का भी एक ही प्रतिनिधि हो; बल्कि संसार भर में हर एक करोड़ आबादी की तरफ से बराबर की तादाद में प्रतिनिधि रहेंगे। कम आबादी बाले हिस्सों को इस तरह मिला दिया

जायगा कि पास पास के हिस्सों के समूह का कम से कम एक प्रतिनिधि लिया जा सके।

प्रतिनिधियों और अधिकारियों की योग्यता—विश्व-संघ मे कोई भी प्रतिनिधि या अधिकारी अनुदार राष्ट्रीय भावो वाला न होगा। सब मानव जाति के सामूहिक हित का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझेंगे। हर प्रतिनिधि के लिए सब से बड़ी योग्यता उसकी विश्वबधुत्व की भावना होगी; वह यह अनुभव करे कि मै मनुष्य हूँ और विश्व-नागरिक हूँ, न कि यह सोचता रहे कि मै अगरेज़ हूँ, मैं जर्मन हूँ; मै गोरा हूँ, मैं भूरा हूँ। सारे विश्व के नागरिकों को अपने परिवार के लोगो की तरह प्रेम करने वाला, और उनमें भेद भाव न रखने वाला, उदार महामना आदमी ही विश्व-राज्य का शासन-भार संभालने योग्य हो सकता है। ज़रूरत पड़ने पर उसे अपने देश या जाति वालो के खिलाफ फ़ैसला देने या काम करने में कोई संकोच या हिचकिचाहट न होनी चाहिए। वह मानवता के बीच मे खड़ी हुई बनावटी दीवारो—रंग, सम्प्रदाय आदि—की परवाह करने वाला न हो। वह सब से समान सहानुभूति रखने वाला, निस्पक्ष और सत्य-प्रेमी हो।

न्याय-कार्य—विश्व-राज्य का हर प्रान्त अपने आन्तरिक शासन में स्वाधीन होगा। पर कुछ बातें ऐसी होगी, जो सब प्रान्तों को माननी होंगी। सब का मूल मंत्र सहयोग और प्रेम होगा। न्याय या अदालत का काम बहुत सरल होगा। मुकदमेबाज़ी का प्रायः अभाव रहेगा; कारण इनकी बुनियाद जायदाद या रुपया पैसा है। सम्पत्ति सामूहिक हो जाने पर, और उदार शिक्षा की व्यवस्था होने पर, बहुत

सा झगड़ा बखेड़ा खुद बखुद शान्त हो जायगा। कोई वसीअत करने वाला और वसीअत का धन पाने वाला, चोर, डाकू, लुटेरा, पूँजीपति, कंगाल, हत्यारा, क़र्ज़ लेने वाला और क़र्ज़ा देने वाला, या ग़बन करने वाला, न होगा। इसलिए जेलखाना, वकील, कैद, फांसी, जज और पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

आजकल तरीका यह है कि जिस आदमी के बारे मे अपराध करने की आशंका होती है, उसे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कराया जाता है, और अदालत में पेश किया जाता है। जिस किसी को अपराधी द्वारा हानि पहुँचती है. वह उसे दंड दिलाने की व्यवस्था करता है। इस मे बदला लेने की भावना होती है। अपराधी को अपराध करने की प्रेरणा किन कारणो से हुई, उन कारणों को किस तरह दूर किया जा सकता है, और अपराधी का सुधार करने के लिए किन किन उपायो को काम मे लाना चाहिए, इन बातो की तरफ ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए एक बार दंड पाया हुआ आदमी बार बार अपराध करता और दंड पाता हुआ पाया जाता है। श्याम ने मनोहर का खून किया तो श्याम को फाँसी की सज़ा मिलकर उस का खून समाज की न्याय-व्यवस्था द्वारा किया जाता है। एक की जगह दो की हत्या हो जाती है। लाभ किसी को नहीं होता। अपराध-रोग के रोगी की हत्या से अपराध-रोग का निवारण नहीं हो सकता। जब तक रोग के कीड़े मौजूद रहेगे, रोग बना रहेगा और मौका पाकर बढ़ता जायगा। इसलिए ज़रूरत है कि रोग का इलाज किया जाय। विश्व-संघ में इस ओर काफी ध्यान दिया जायगा। हमें अपराध-रोग को नष्ट करना है, ऐसा होने पर दंड या सज़ा खुद ही उठ जायगी। दंड देने की हालत

में उसे देने वाले और पाने वाले दोनो का ही पतन होता है। दोनों में पाशविकता या हैवानियत बढ़ती है। निर्दयता का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। जेल, कालापानी और फांसी ने जनता का सुधार न करके भारी हानि ही पहुँचाई और पहुँचा रहे है।*

सेना और पुलिस—राज्य के साथ सेना और पुलिस का सम्बन्ध अटूट माना जाता है। राज्य जितना बड़ा होता है, उतनी ही अधिक सेना की ज़रूरत होती है। राज्य मे नागरिको की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की कमी कर के भी सेना की ज़रूरत पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाता है। आजकल का पाठक राज्य सम्बन्धी किसी योजना को ठीक नहीं समझता, जब तक उस में सेना की पूरी पूरी व्यवस्था न हो। पर यह कहाँ तक ठीक है ?

आज कल सेना की ज़रूरत इसलिए होती है कि या तो हमे दूसरे राष्ट्र के हमले का डर होता है, जिसे हमारे देश के धन दौलत का लोभ हो, अथवा हम खुद लोभवश किसी दूसरे देश पर हमला कर के उसे अपने अधीन करने की फिक्र मे होते हैं। विश्व-संघ कायम हो जाने पर, जब उस के विविध भागो मे आर्थिक विषमता न होगी, लोभ या हिन्सा की भावना न होगी और सब एक ही राज्य के अग होंगे तो कौन हमला करेगा, और किस पर हमला होगा ? द्वैत भाव या गैरियत का भाव न होगा, इसलिए मारने वाली सेना न होगी, फिर मुकाबला करने वाली सेना की भी क्या ज़रूरत रहेगी ?

---

* इस विषय पर विस्तार पूर्वक श्री० केलाजी की 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

विश्व-राज्य हिन्सा द्वारा या हिन्सा के आधार पर क़ायम न होगा। प्रकृति ने मनुष्य को काम करने योग्य हाथ पाँव दिये हैं, लेकिन पैने नख, पंजे आदि नहीं दिये। इससे प्रकृति का मनुष्य को आदेश है कि काम करो, लड़ो नही; एक दूसरे को जख्मी न करो, किसी की हत्या मत करो। हिन्सा हमेशा न्याय और समानता की दुशमन रही है। जब सब आदमी मेहनत करें और धन पैदा करें तो कुछ लोगो को मेहनत से अलग रख कर उन्हे घातक या हिंसक हथियार क्यो दिये जायँ! यह हथियारबन्द श्रेणी अन्त में सारे समाज को सताती और उसका शोषण करती है, चाहे उसकी स्थापना किसी भी गरज़ से क्यो न हुई हो। आजकल की सी पुलिस और सेना कभी उपयोगी संस्थाएँ नहीं हो सकती। यदि सब आदमी और औरतें ईमानदारी से काम करें और शान्ति से रहे, तो चोरी या ठगी करने वाला ही कोई न होगा. जिससे रक्षा करने के लिये पुलिस ज़रूरी समझी जाती है। जब पुलिस होती है तो उसकी धाँधली और ज्यादती से लोगो की रक्षा करने के लिये हमें उसका नियंत्रण करने वाली सस्थाएँ चाहिएँ, और फिर उन नियन्त्रक सस्थाओं का नियंत्रण करने वाली संस्था चाहिए इस तरह कहीं अन्त ही होने मे नहीं आता।

वर्तमान समय में पुलिस की ज़रूरत ज्यादहतर धनी लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए होती है, क्योंकि गरीब ईमानदार आदमियो के पास ऐसा कुछ नहीं होता जिसे चोर चुराना चाहे। यदि सम्पत्ति और श्रम का ठीक ठीक बँटवारा हो जाय तो चोरो का अस्तित्व मिट जायगा। कोई बच्चा चोर पैदा नहीं होता। चोर और गठकतरे पूँजीवाद से पैदा होते है। सोना और चाँदी, जवाहरात और नकदी, हीरे और मोती चोर और डाकुओं का साहस बढ़ाते हैं। इसलिए व्यक्तिगत या निजी

मिल्कीयत के हट जाने से, और ठीक ठीक नैतिक शिक्षा से, यानी हर आदमी के अपनी जायदाद को सब के लिए खर्च करने से, चोर डाकू न रहेंगे, तब पुलिस की भी जरूरत न होगी।

नागरिकता— अब हम विश्व-राज्य या विश्व-संघ की नागरिकता के बारे में विचार करें। आदमी के तरह तरह के समूह होते हैं। वंश और नाते रिश्ते के आधार पर कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि बनती है। इस तरह के समूहो से मनुष्य का सम्बन्ध अपने जन्म से होता है। दूसरे समूह आदमी अपनी इच्छा या जरूरत के अनुसार बना लेता है। इन समूहों के अनेक भेद हैं—धार्मिक या साम्प्रदायिक, व्यवसायिक या औद्योगिक, साहित्यिक, प्रादेशिक इत्यादि। इन तरह तरह के समूहों में एकता या सामञ्जस्य कायम करने वाला मुख्य सूत्र है, नागरिकता। नागरिकता की भावना का क्षेत्र दिन दिन बढ़ रहा है, लेकिन अभी तक उसका पूरा पूरा विकास नहीं हुआ है। पहले कहा जा चुका है कि पुराने जमाने में राज्य आम तौर पर छोटे छोटे होते थे। कुछ तो एक एक नगर तक ही परिमित थे। इसलिए उनकी नागरिकता का क्षेत्र बहुत सीमित था। फिर इन नगर-राज्यो में भी आम तौर पर स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था। इसके अलावा उस समय अनेक दास होते थे, जिन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था। कालान्तर में यह बात नहीं रही, इससे नागरिकता का क्षेत्र बढ़ने लगा।

धीरे धीरे राज्यों का विस्तार बढ़ा; न केवल प्रधान नगर के नजदीक के गाँव ही, बल्कि आस पास के दूसरे नगर भी एक ही राज्य के महत्वपूर्ण हिस्से बनने लगे। राज्य के क्षेत्र के बढ़ने का नतीजा नागरिकता का फैलाव था ही। आज कल एक

एक राज्य का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील, और आबादी करोड़ों है। इसलिए नागरिकता का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

कुछ राज्यों ने बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण कर लिया है। इससे नागरिकता का क्षेत्र कुछ और बढ़ा है; परन्तु मानव जाति के दुर्भाग्य से, उस अनुपात मे नहीं जिसमे साम्राज्य का आकार-प्रकार बढ़ा है; क्योंकि साम्राज्य के केवल थोड़े से ही हिस्से स्वाधीन होते है कितने ही हिस्से अर्द्ध स्वधीन और पराधीन होते हैं। स्वाधीन हिस्से के निवासियो को जो अधिकार साम्राज्य मे रहते हैं, वे दूसरे हिस्सो के निवासियो को नहीं होते। सम्राज्य की नागरिकता का अर्थ लोगों के लिए उनके अपने देश की स्वाधीनता या पराधीनता के अनुसार होता है, जैसे ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता का जो अर्थ केनेडा या आस्ट्रेलिया के नागरिकों के लिए है, वह भारतवासियों के लिए नहीं। परन्तु कल्पना करो कि हर साम्राज्य के सभी हिस्सों को बराबर की स्वाधीनता प्राप्त हो तो भी असली उद्देश्य सिद्ध न होगा। क्योंकि एक साम्राज्य का नागरिक दूसरे साम्राज्य के नागरिक को पराया, गैर या शत्रु समझता है। उन्हे दुखी देखकर खुश होता है; यहाँ तक कि उन्हे नुकसान पहुँचाने मे अपना गौरव या बड़प्पन मानता है। इसलिये साम्राज्य की नागरिकता का आदर्श भी मानव जाति के लिये अभिशाप है।

हमने एक नगर की नागरिकता संकीर्ण समझी, हम आगे बढ़े, राज्य और साम्राज्य की नागरिकता का भी अनुभव करके देख लिया। अब इससे आगे बढने की जरूरत है। समय की पुकार है कि हर आदमी, चाहे वह किसी भी देश का हो, संसार भर का नागरिक माना जाय। वह कहीं जाय, कहीं रहे, उसके उचित अधिकारों की सब जगह रक्षा हो। नागरिकों में गोरे

काले का, यूरोपियन या एशियाई का, कोई भेद भाव न हो। नागरिकता राज्य की नही, साम्राज्य की भी नही, विश्व की होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने का आशय यह है कि हमें नीचे लिखी बातें मजूर हैं—ससार के सब मनुष्य भाई भाई है; रंग जाति. धर्म, या देश आदि का भेद भाव गलत या बेजा है। ऊँच नीच या स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना निंदनीय है। किसी भी व्यक्ति. सस्था. समूह या देश को किसी भी बहाने अपने अधीन करना घोर अपराध है। परस्पर प्रेम, समानता और सहयोग हमारे जीवन के मूल मत्र है। ऐसे भावो से युक्त नागरिकता निस्सन्देह विश्व का कल्याण करने वाली होगी।

अधिकार और कर्तव्य—नागरिकता मे अधिकारों और कर्तव्य दोनो का समावेश होता है। आज कल के राज्यो मे नागरिक अपने लिए ज्यादह से ज्यादह अधिकार हासिल करने की फिक्र में रहते हैं, फल स्वरूप तरह तरह के आन्दोलन होते रहते है। कर्तव्यों की बात प्राय: गौण रहती है, यहाँ तक कि भावी विश्व-व्यवस्था की योजना बनाने वालो के सामने भी मुख्य विषय यही होता है कि भविष्य मे लोगो के अधिकार क्या होगे। मिसाल के तौर पर सन् १९४० मे इंगलैण्ड के मशहूर विद्वान एच० जी० वेल्ज ने 'लोगो के अधिकारो' के बारे मे कुछ विचारपूर्ण लेख प्रकाशित कराये थे। उन्हों ने कहा था कि इन अधिकारो को संसार भर के सब राज्यो मे कानून का रूप मिल जावे तो विश्व-व्यवस्था बहुत सुन्दर होजायगी। हर आदमी को अपनी शारीरिक, आर्थिक और मानसिक उन्नति के लिए काफ़ी साधन मिलेंगे, और वह सुख और शान्ति से जीवन बिता सकेगा। वह सब काम करने के लिए स्वतत्र होगा, राज्य उसकी स्वतंत्रता में किसी तरह की बाधा न

डालेगा। श्री० वेल्ज़ ने, बहुत से और महानुभावों से, इन अधिकारों के बारे में, राय मांगी थी। उन्हें जो जवाब मिले, उनमें से महात्मा गांधी के उत्तर की ओर हम पाठकों का ध्यान ख़ास तौर से दिलाना चाहते हैं। वह उत्तर विश्व-संघ की भावना के अनुकूल है। महात्मा जी ने लिखा था—

"आपका तार मिला। आपके पांचों लेख मैंने ध्यान से पढ़े हैं। मैं समझता हूँ कि आप बिलकुल ग़लत रास्ते पर हैं। मुझे विश्वास है कि मैं मनुष्यों के अधिकारो का, आपसे अच्छा नक्शा बना सकता हूँ। लेकिन वह किस काम का? उसका संरक्षक कौन बनेगा? यदि आपका उद्देश्य प्रचार या लोकशिक्षण है, तो आपने उलटे सिरे से काम शुरू किया है। मैं सच्चा रास्ता बताता हूँ। आप मनुष्य के कर्तव्यों का एक नक्शा बनाइये और मैं निश्चय के साथ कहता हूँ कि अधिकार तो अपने आप उसी तरह प्राप्त हो जायेंगे, जिस तरह सर्दी के बाद बसंत आता है। यह मेरा अनुभव-सिद्ध अभिप्राय है। एक युवक की हैसियत से मैंने अपने अधिकार जमाने की शोशिश की, पर तुरन्त ही मैंने पाया कि अधिकार जैसी कोई चीज़ मेरे पास नहीं। मुझे खुद अपनी पत्नी तक पर कुछ अधिकार हासिल नहीं, इसलिए मैंने अपनी पत्नी, बच्चों, मित्रों साथियों और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य खोजना और उसे पूरा करना शुरू किया। फलस्वरूप आज देखता हूँ कि मेरे हक़ इतने विशाल हैं कि संसार में शायद ही किसी आदमी के हों। यदि यह मेरा बहुत बड़ा दावा है तो मैं कहूँगा कि मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता, जिसके अधिकार मेरे अधिकारों से बढ़चढ़ कर हों।"

वास्तव में विश्व-राज्य का काम तभी ठीक तरह चलेगा, जब लोगों में कर्तव्य पालन की भावना भरपूर होगी। इस समय न

सर्वसाधारण को, खासकर अन्याय के सन्मुख, अपने ठीक ठीक 'कर्तव्य' की शिक्षा दी जाती है, और न जिन व्यक्तियों या समूहो को आर्थिक या राजनैतिक सत्ता प्राप्त है, वे अपने असली कर्तव्य पालन की ओर ध्यान देते हैं। नतीजा आपसी कलह और कुव्यवस्था होने वाला ही ठहरा। इसका उपाय यही है कि शुरू से ही लोगों में कर्तव्य-पालन की भावना पैदा की जाय। घर में और बाहर बालकों की शिक्षा का यह आवश्यक अंग हो। इस विषय में विशेष पहले लिखा जा चुका है। जब हम अपने जीवन में ससार भर के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करने का कार्यक्रम रखेंगे तब विश्व-राज्य के शासन में वे कठिनाइयाँ या उलझनें आने का प्रसंग ही न रहेगा, जिनका आजकल सब तरह के राज्यों को सामना करना पड़ रहा है। विश्व-राज्य एक महान परिवार होगा, जिसके सदस्य एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहयोग का भाव रखेंगे। सुसंस्कृत परिवार में हर व्यक्ति दूसरे की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। विश्व-राज्य रूपी परिवार में भी ऐसा ही होना चाहिए।

विश्व-राजधानी—राज्य होगा तो उसकी राजधानी भी चाहिए। पर विश्व-राज्य की राजधानी आजकल की राजधानियों से उसी तरह अलग ढंग की होगी, जैसे विश्व-राज्य आजकल के राष्ट्र-राज्यो से अलग ढंग का होगा। विश्व-राजधानी में ऊंचे ऊंचे और विशालकाय राजभवनों की जरूरत न होगी, जिनमें जनता की गाढ़ी कमाई की असंख्य सम्पत्ति लगी हो, न वहाँ पुलिस और सेना का ही आतंक होगा, जिससे नागरिकों के मन में भय भरा रहे; शासकों के ऐश्वर्य का प्रदर्शन वहाँ न मिलेगा। वह राजधानी त्यागशील सेवा-भावी कार्यकर्ताओं के अनुरूप शान्त वातावरण में होगी। वहाँ जाने

वाले आदमी के मन में विलासिता या वैभव के भावों का उदय न होगा, बल्कि उसमें संयम और सादगी के विचार जागेंगे। उसका हृदय राग द्वेष आदि से मुक्त होकर विश्व-सेवा के लिए तत्पर होगा। इसलिए वहाँ के कार्यकर्ताओं को यह तो कभी शिकायत ही न होगी कि राजधानी का स्थान हमारे देश से बहुत दूर है, या यहाँ हमारे भाई बंधु नहीं रहते। वे कार्यकर्ता सभी जगह अपनेपन का अनुभव करेंगे, और, विज्ञान की सहायता से आने जाने के साधनों की उन्नति होने से दूरी की समस्या तो संसार से बहुत कुछ उठ ही जायगी।

रहा यह कि वह राजधानी होगी किस जगह। राष्ट्र-संघ ने अपने प्रधान कार्यालय के लिए जेनेवा (स्विटज़रलैंड) का चुनाव किया था। पर यह ज़रूरी नहीं कि विश्व-राज्य की राजधानी वहाँ ही हो। यह तो सब देशों के सुभीते और सब की पसन्द की बात है। लाला हरदयाल के विचार से इसके लिए यूनान का एथन्स नगर अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि आजकल की सभ्यता दूसरे नगरों की निस्बत एथन्स की अधिक ऋणी है; संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से यह नगर सब से पवित्र यात्रा-स्थान है; यह पूरब और पच्छिम के बीच में है; और यह न ज़्यादह ठंडा न ज़्यादह गरम, बीच की आबहवा वाला है। इस विषय पर मत भेद भी हो सकता है। श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'राष्ट्रीयता के मूल मंत्र' में सारे मनुष्य-समाज का शासन एक ही केन्द्र से होने की बात कह कर लिखा है— "आइए! हम मिलकर आशा करें कि वह केन्द्र जगद्गुरू आर्यावर्त के अन्दर मन्वंतर पुराण दिव्यमूर्ति हिमाचल की उपत्यका में कहीं पर होगा, जहां से एटलांटिक महासागर के इस और उस पार के भूखंडों पर अखंडित राज्य होगा।" लेकिन जैसा हमने

ऊपर कहा है,राजधानी के विषय पर हमें कोई आग्रह नहीं है; यह तो समय आने पर सब देशों के प्रतिनिधि मिल कर. अपने अपने पक्षपात और अपनी अपनी श्रेष्ठता के संकीर्ण भावो से पूरे तौर से ऊपर उठ कर, प्रेम के रंग में रंग कर, सबकी सुविधा को देखते हुए, तय कर लेंगे।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ और अहिन्सा

समाज की प्रगति में तीन हालतें होती हैं। पहली हालत में जंगल-कानून का—हिन्सा और स्वार्थ का—दौरदौरा होता है; दूसरी में कानून और निष्पक्ष न्याय का; तीसरी में अहिन्सा और निस्स्वार्थ भाव का आधिपत्य होता है। सभ्य मानव जाति का सर्वोच्च उद्देश्य यही है।

—*राधाकृष्णन*

हिन्सा और पशुबल के आधार पर क़ायम हुए राज्यों का अनुभव हम खूब कर चुके हैं; उनका हज़ारों वर्ष का इतिहास हमारे सामने है। उससे हमें जान लेना चाहिए कि हिन्सा से केवल हिन्सा का ही जन्म होता है, शान्ति का नहीं। और, जब तक शान्ति की सच्ची व्यवस्था नहीं की जाती, तब तक विश्व-राज्य की स्थापना नामुमकिन है।

विश्व-राज्य क़ायम करने के लिए ही नहीं, उसे बनाये रखने के लिए भी अहिन्सा और प्रेम की ज़रूरत है। इस बात को अभी बहुत से लोग नहीं समझ पाये हैं। यह स्वाभाविक ही है। जो लोग हिन्सा के वातावरण में जन्मे, जो

हिन्सा में पाले पोसे गये, जिन्होंने हिन्सा के विद्यालयों में शिक्षा-दीक्षा पाई, और जो हिंसा के राज्य में रहे, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे जल्दी ही अहिन्सा की महान क्षमता को समझ लें, और इसे अपनाने लगें। इस बात को कुछ और अधिक साफ कर देने की जरूरत है, ताकि विश्व-राज्य की सब बाधाएँ दूर हो जायँ।

संसार की अधिकांश आबादी अविद्या के अंधकार मे डूबी है। माता पिता बाल-मनोविज्ञान से, और बालकों को घरों में दी जाने वाली शिक्षा के सिद्धान्तों से अपरिचित हैं। निर्धन होने के कारण उनके पास बालकों के भरण पोषण के आवश्यक साधनों का भी अभाव है। वे अपनी संतान की स्वाभाविक भावनाओं और शक्तियों का विकास नहीं कर पाते। उन्हें कदम कदम पर अपनी इच्छानुसार ही चलाना चाहते हैं, और, जब कभी इसमें कुछ प्रतिकूलता दिखाई देती है तो वे जबर-दस्ती से काम लेते हैं। बालक यदि कम खाता है तो मा उसे डरा धमका कर ज्यादह खिलाना चाहती है। मा अपने धंधे में लगने वाली है, और बालक को नींद नहीं आती, तो मा उसे मार पीट कर सुलाएगी। बालक से खेल कूद में कोई चीज़ टूट फूट जाय तो मा का थप्पड़-घूँसा उस पर पड़े बिना न रहेगा। बात-बात में बालक को मा बाप के क्रोध और हिन्सा-भाव का शिकार होना पड़ता है।

बालक कुछ बड़ा हुआ, पाठशाला में जाने लगा। उसके अध्यापकों ने चाहे शिक्षण-कला की ट्रेनिंग भले ही पायी हो, और, चाहे सिद्धान्त से यह भी जानते हों कि बालकों को डराना धमकाना या शारीरिक दंड देना बुरा है, पर व्यवहार में आम तौर पर अध्यापक इस असूल को भूल ही जाते हैं। उस समय

उनके मस्तिष्क में यही भाव होता है कि बालकों को ताड़ना देने में बहुत गुण हैं, और लाड़-प्यार में बहुत दोष हैं, इसलिए बालकों की ताड़ना करते रहना चाहिए। उन्हें अंगरेजी कहावत का भाव याद रहता है, जिसका अर्थ यह है कि 'छड़ी को विश्राम देना, बालक को बिगाड़ना है।' बस, अगर विद्यार्थी का किसी निरस विषय में मन नहीं लगता तो अध्यापक अपनी बुद्धि का सहारा न लेकर छड़ी का सहारा लेता है। यदि विद्यार्थी की समझ में कोई पाठ नहीं आता तो उसे छड़ी से याद कराया जाता है; अथवा, कभी कभी उस पर कुछ जुरमाना कर दिया जाता है, यदि विद्यार्थी कोई ऐसी बात करता है, जिससे अध्यापक की अयोग्यता सूचित होती हो तो गुरू जी आगे पीछे विद्यार्थी को दंड दिये बिना न मानेंगे। विद्यार्थी-जीवन में हमें बुद्धि, विवेक और प्रेम के बजाय दंड और जुरमाने के शासन में रहना पड़ता है, जो सब हिन्सा के अनेक रूप हैं।

विद्यार्थी स्कूलों कालिजों से छुट्टी लेकर सार्वजनिक कर्तव्य के पालन करने के लिए समाज के आश्रय में आता है। आज कल का समाज पहले से बहुत बदल गया है, पर उसकी नीति अस्पष्ट या छिपी हुई होने पर भी उसका मूल मंत्र 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' ही है। जमींदार, तालुकेदार या जागीरदार अपने अधीन किसानों को सताते हैं; पूँजीपति श्रमजीवियों को चूसते हैं; जिसका जहाँ बस चलता है वह जबरदस्ती करने से बाज नहीं आता। यहाँ तक कि दया धर्म का दावा करने वाले अनेक धर्माधिकारी भी अपने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए लोगों को तरह-तरह के प्रलोभन देने के अलावा कभी-कभी डराने धमकाने या मार पीट करने से नहीं चूकते। सफलता-प्राप्ति के लिए बल और हिन्सा अन्तिम शस्त्र माने जाते हैं।

सबसे बड़ी और व्यापक संस्था, जिससे आदमी को काम पड़ता है, वह राज्य है। राज्य यह एलान करता है कि मैं नागरिकों के लिए कानून और न्याय का शासन क़ायम करूँगा, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की नीति न चलने दूँगा। परन्तु उसके इस दावे में क्या तत्व है, जब कि उसका संगठन ही ऐसा हो कि व्यवस्थापक सभाओं आदि में जमींदारों, जागीरदारों और पूँजीपतियों का बोलबाला हो; शासन में कूटनीति से काम लिया जाता हो, दूसरे राज्यों का जन धन हड़पने में हिन्सा से परहेज न किया जाता हो, जब कि युद्ध करने में उसे गौरव मालूम होता हो, और जब कि नित्य नयी संधि करना, और प्रतिज्ञाएँ करना और नित्य ही उन्हें तोड़ना मामूली बात समझी जाती हो।

ऐसे चौमुखी हिन्सा के वातावरण में जीवन व्यतीत करने वालों को अहिन्सा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा या विश्वास होना बहुत कठिन है। परन्तु वे तनिक विचार करें तो हिन्सा की असफलता उन्हें साफ नज़र आ जायगी। संसार का इतिहास देखिए। मानवता युद्धों के कारण कराहती रही है, सुख शान्ति हमसे दूर दूर ही रहे हैं; बारबार जन धन की क़ुर्बानी करते रहने पर भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिल पायी।

हम यह भूलते नहीं हैं कि इतिहास में कभी कभी पीड़ित वर्ग ने हिन्सा से भी अपने अत्याचारियों के विरूद्ध सफलता प्राप्त की है; पर ऐसी मिसालों से तो इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, जिनमें सशस्त्र युद्ध में न्याय और सत्य की पराजय हुई, और अन्यायी का बल, संगठन और अत्याचार और भी अधिक बढ़ा। फिर, सशस्त्र युद्ध में, जिसकी पराजय होती है, वह तो पराजित

होता ही है; असल में देखा जाय तो जीतने वाले को भी बहुत नुकसान पहुँचता है, भले ही अपनी जीत के नशे में वह उसका विचार न करे। हमारा आशय यहाँ उस नैतिक पतन से है, जो शस्त्र-धारण और हिंसा के साथ अनिवार्य है। अनेक बार यह देखा गया है कि जिन लोगों ने जनता की रक्षा के नाम से हथियार उठाये थे, वे ही विजयी हो जाने पर, जनता की रक्षा का ध्येय छोड़ कर, उसके भक्षक बन बैठे। जनता ने अनुभव किया कि उसके नेता, धोखा देने वाले साबित हुए और उसी समय से जनता दूसरी क्रान्ति की तैयारी करने लगी। फ्रांस ने अठारहवीं सदी के अन्त में शासकों के अत्याचार से तंग आकर बोरबोन वंश को हटाने के लिए नेपोलियन का स्वागत किया था। नेपोलियन ने हिंसा के जोर से लोगों की इच्छा पूरी की, बाद में वह खुद ही उन्हें तकलीफ देनेवाला बन गया। यह है हिंसा का नतीजा। हिंसा ने पहले सफल होकर भी अखिर में असफलता दी। इसके विरुद्ध अहिंसा या शान्तिवाद कभी असफल नहीं होता। जब उसे प्रत्यक्ष सफलता नहीं मिलती तब भी वह अहितकर नहीं होता। वह अपने पीछे द्वेष, दुर्भावना, या बदला लेने की विरासत नहीं छोड़ता। और, अगर वह प्रत्यक्ष में सफल हो जाय तो कहना ही क्या है!

इन बातों को ध्यानमें रखते हुए हमें अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, और ठीक ठीक तय की हुई नीति से फिर विचलित न होना चाहिए। शक्ति, लोभ और घृणा से भरे हुए इस अपूर्ण समाज में हिंसा कभी-कभी आंशिक विजय प्राप्त कर लेती है। परन्तु हमें उसके प्रलोभन में फँसकर पूर्ण और स्थायी सफलता के आदर्श को नहीं भुला देना चाहिए। हमें दूर तक की बात सोचनी है, हमें कल के बाद आने वाले

दिन, परसों, और उसके बाद आने वाले दिनों के लिए,बिना हिंसा के, निर्माण-कार्य करना है।

संसार में कुछ आदमी वह कार्य करते हैं, जो उनके दल के लिए अच्छा दिखाई देता है, कुछ उसे पसन्द करते हैं जो इससे बेहतर हो। हमें तो दूर तक देखकर सर्वोत्तम से प्रेम करना चाहिए, और चाहे जो हो, उस पर दृढ रहना चाहिए।

सब अन्यायों की जड़ सगठित हिन्सा है। युद्धों और विजयों ने मानव जाति को स्वामी और दासों में, सामन्तों और किसानों में, पूँजीपतियों और मजदूरों में, और साम्राज्य-शासकों और प्रजाजनों में बाँट दिया है। शुरू में कुछ आदमी विरोधी क़बीलों या उपजातियों से लड़ने के लिए अलग कर दि येगये थे। ये लोग योद्धा या सिपाही कहलाने लगे। शान्ति के समय ये अपने ही समूह के आदमियो में लूट मार करने लगे। धीरे धीरे इनका अलग दल या जाति बन गयी। मामूली जनता इनकी गुलाम हो गई, वह इनकी अधीनता में रहने लगी। कुछ योद्धा दूसरे कबीलों को पराजित कर उनमें शासक, भू-स्वामि या सेनापति बन कर रहने लगे। इस लूटमार की पद्धति का मूल हिन्सा थी। सैनिकों ने किसानों और मजदूरों को टेक्स देने के लिये मजबूर किया। इस तरह ज़ाहिर है कि हिन्सा श्रम की, यानी किसानों और मजदूरों की, स्वाभाविक शत्रु है। इन दोनों का कभी मेल नहीं हो सकता। हिन्सा के बल पर, साधारण जनता अपने अंतिम उद्धार की आशा नहीं कर सकती! यदि हिन्सा संगठित शक्ति से पूंजीवाद को हटा भी दे तो वह जनता का नये नये उपायों से शोषण करेगी। सैनिक लोग क्यों मेहनत करने लगे! वे तो काम करने वालों को, जिस तरह हो, लूटने का आसान रास्ता ही पसन्द करेंगे।

इसलिए हमें सब तरह की सेनाएँ हटानी हैं, और नयी सेनाओं का संगठन नहीं करना है। युद्धवाद को पूरी तरह हटाकर ही आमजनता का शोषण रोका जा सकता है।

यह ठीक है कि कभी कभी युद्धवाद से कुछ विजय होती दिखाई देती है, लेकिन इसके बाद दूसरा संकट आ जाता है। इतिहास में इसकी मिसालें भरी पड़ी हैं। यहाँ एक मिसाल देना काफी होगा। अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में फ्रांस की सैनिक शक्ति ने जर्मनी को सताया और नीचा दिखाया था। उससे जर्मनी को अपना राष्ट्र-बल बढ़ाने की उत्तेजना मिली, जिसका सबूत उन्होंने, अलसेस-लारेन पर अधिकार जमा कर, दिया। इस पर फ्रांस के मन में बदला लेने का भाव जागा। फ्रांस और जर्मनी का मनमोटाव बढ़ता गया। फलस्वरूप १९१४-१८ का महायुद्ध आया। उसमें विजयी पक्ष ने जर्मनी को सदा के लिए ठंडा करने का आयोजन किया। पर हिन्सक मनोवृत्ति से शान्ति का जन्म नहीं हो सकता। जर्मनी में बदला लेने की भावना बढ़ती गयी। सन् १९१९ में शान्ति के नाम पर लगाया हुआ हिन्सा का वृक्ष सन् १९३९ में फल लाया। हम लोगों को अपनी एक ही पीढ़ी में दूसरा विश्व-व्यापी महायुद्ध भोगना पड़ा, जो पहले से कहीं अधिक विकराल, विनाशकारी और अधिक फैला हुआ है। इस तरह एक युद्ध का परिणाम दूसरा युद्ध, दूसरे का परिणाम तीसरा, और तीसरे के बाद चौथा। यह सिलसिला आगे बढ़ता रहता है। इसका अन्त कैसे हो?

समय समय पर कुछ आदमियों ने इस युद्धवाद का विरोध किया है। शुरू में ईसाइयों को यह शिक्षा दी जाती थी

कि रोम की सेना में नौकरी न करें। पादरी आरीजन ने साहस के साथ कहा था—"हमारे धर्म के शत्रु चाहते हैं कि हम राज्य के लिए शस्त्र धारण करें और आदमियों का बध करें·····सम्राट को हमारी जरूरत हो तो भी हम उसकी अधीनता में युद्ध नहीं करते।"

वह सच्ची घटना कितनी शिक्षाप्रद है। रोम की विशाल रंगभूमि में दर्शकों की भीड़ थी। सम्राट् तमाशा देखने वाली जनता को खुश करने के लिए कुछ योद्धाओं की, अखाड़े में, आमरण लड़ाई करा रहा था। लड़ने वालों में अपूर्व जोश था, नशा था। यह खूनी द्वन्द रोज मर्रा का तमाशा हो चला था। इसे कौन रोके! इसके विरुद्ध आवाज उठाना भी अपना उपहास कराना, लोगों की घृणा का पात्र बनना था। बड़े बड़े आदमियों में इस साधारण प्रवाह के विरुद्ध जाने का साहस न था। टेलमेंकस नाम का एक पादरी अपने स्थान से उठा और झपट कर योद्धाओं के बीच में जा पहुँचा। दोनों ओर के शस्त्रों से उसका शरीर छलनी छलनी हो गया। उसके प्राण पखेरू उड़ गये, पर वह अपने बलिदान से उस राक्षसी खूनी तमाशे को बन्द कर गया। भारतीय पाठक जानते हैं कि राणा प्रताप और शक्तसिंह के बीच घातक द्वन्द्वयुद्ध रोकने का काम उनके पुरोहित ने अपनी जान पर खेल कर किया था।

पिछले यूरोपीय महायुद्ध में 'सोसायटी आफ फ्रेंड्स' (मित्र-समाज) और कई श्रमजीवी संस्थाओं ने सिपाही की वर्दी पहिनने से हिम्मत के साथ इनकार कर दिया था—पागलों की दुनिया में ये ही थोड़े से आदमी अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे सके और उस पर अमल कर सके। इस तरह शान्तिवाद बिल्कुल नयी बात नहीं है, पर इसकी ठीक ठीक परीक्षा नहीं

हुई। इसे और अधिक अवसर मिलने की जरूरत है। हिंसक सैन्यवाद या युद्धवाद से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग है ही नहीं। यह ठीक है कि शान्तिवाद के समर्थकों को अक्सर गिरफ्तार करके खूब सताया जाता है, परन्तु उनके त्याग और कष्ट-सहन से लोगों को बुद्ध, महावीर और ईसा की शिक्षा याद आ जाती है, जिसे वे भूले हुए हैं। संसार को आधुनिक नरमेधों से बचाने के लिए ऐसे आत्मबली, त्यागी पुरुषों की जरूरत है।

वर्तमान युद्ध ने दिखा दिया कि वैज्ञानिक और आर्थिक शक्ति-सम्पन्न देश युद्ध कार्य में कहां तक बढ़ गये हैं। कितने ही देशों ने युद्ध के अधिक से अधिक विकसित साधनों से काम लिया और मरने मारने में किसी तरह कमी नहीं की। फिर भी वे देश अपनी स्वाधीनता खो बैठे। यूरोप के छोटे छोटे राष्ट्रों ने एक-एक दिन में दस-दस पंन्द्रह पंन्द्रह करोड़ रूपये से अधिक खर्च कर डाला या फूँक डाला। जब कोई देश सैनिक तैयारी की बात करे तो इन बातों को याद रखे। कोई गरीब देश इतना धन हिंसक सामग्री में कैसे खर्च कर सकता है! यह भी विचार करना है कि हम हजारों लाखों आदमी की हत्या करें और, इतने पर भी देश की रक्षा और स्वाधीनता को गारंटी नहीं। हमारी हिंसा को देख कर विपक्षी में प्रतिहिंसा की भावना बढ़ती जायगी। इस का अन्त कौन करे!

यह महान कार्य हमारे ही करने का है। उपाय भी सरल ही है। मनुष्य यह पक्का इरादा करले कि हम कभी हथियार न उठायेंगे, कभी नहीं लड़ेंगे, और न लड़ने का व्यापार सीखेंगे। यदि हम इतना काम करलें तो उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। हमें व्यापक निशस्त्री-करण की, या स्थायी शान्ति के लिए विश्व-संधि की, इन्तजार

करने की जरूरत नहीं है। वह सब अपने समय पर हो जायगा। पर उसके होने के लिए यह जरूरी है कि हम इस समय व्यक्तिगत रूप से पहले अपने आपको निशस्त्र करदें। हम किसी के लिए भी न लड़ें। हमारा मन सदैव शान्ति की बातों को सोचे, युद्ध का कभी विचार न करें। जब कुछ आदमी इस काम में अग्रदूत बन जायँगे तो वे दूसरों को भी इस काम के लिए बुला सकते हैं; जनता उनका अनुकरण करेगी। इसलिए क्यों न हम अहिन्सा का निश्चय करें! हाँ, हमारी अहिन्सा निर्बलों या कायरों की अहिन्सा न हो, वह बीरों की अहिन्सा हो। शत्रु यह जानले कि हम उसकी अधीनता कभी स्वीकार न करेंगे। उसे यह विश्वास हो जाय कि हमारे कुछ आदमियों को मारने या हमारी भूमि के किसी भाग पर अधिकार करने से उसे कोई लाभ न होगा। इस तरह वह हम पर विजय पाने की कल्पना न करे; हम हिन्सा से बचें और उसे भी हिन्सा से बचावें। निस्सन्देह इसके वास्ते सच्चे कष्ट सहने वाले, और त्यागशील सत्याग्रहियों की जरूरत है।

शान्ति-सेना के महत्व और शिक्षा के विषय में कुछ विचार-सामग्री देनेके लिए यहाँ महात्मा गाँधी के एक लेख के कुछ अंश का आशय दिया जाता है।* हिन्सक सेना के सैनिक को सब से बड़ी आवश्यकता शारीरिक बल की होती है, जिस से वह दूसरो को मारने की सामर्थ्य बढ़ा सके। इसलिए बुड्ढे, छोटी उम्र वाले, और रोगी उस से अलग रखे जाते हैं। परन्तु शान्ति-सैनिक में मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्यौछावर कर सके। यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों,

* यह लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४३ के अंक में छपा था।

अंधों, लंगड़ों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इस से स्पष्ट है कि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकती है। इस सेना को अस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती, इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम में डाल कर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसीको भी शत्रु नहीं मानता; जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढ़े और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहाँ तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिये। अनेक बार ऐसा प्रसंग आसकता है कि उन्हें भूख प्यास, सर्दी गरमी, वर्षा, मार पीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उन में यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई दंगे के बीच में पड़ कर लड़ने वालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।

हम ऐसे वातावरण में पले हैं, और हमारी विचारधारा और दृष्टिकोण ऐसे हो गये हैं कि हमें इन बातों में विश्वास नहीं होता। इनमें हमारी रुचि नहीं है। आवश्यकता है कि हम इन पर गम्भीरता के साथ विचार करें। युद्ध मानव जाति के लिये अभिशाप रूप है, इसके निवारण के लिये हर विवेकशील आदमी को भरसक उद्योग करना चाहिए। युद्ध का अन्त युद्ध के द्वारा न होगा, बल्कि हिन्सा से सर्वथा असहयोग करने और मानव प्रेम को अपनाने से ही होगा, जिसके अन्तर्गत एक आवश्यक बात यह है कि ऐसा करने में जो भी कष्ट हम पर आवे, उसे शान्ति और गम्भीरता से सहन किया जाय। यदि

मृत्यु का भी स्वागत करना पड़े तो वह सहर्ष किया जाय। विश्व-राज्य की स्थापना तथा सुरक्षा केवल इच्छा से या कहने मात्र से न होगी, इसके लिए ठीक ठीक कृति चाहिए।

हर युग की कोई एक ज्वलन्त समस्या और एक सर्वोच्च प्रगतिशील आन्दोलन होता है। ससार के भिन्न भिन्न देशो मे कभी बौद्ध, ईसाई या हिन्दू कहलाने वालों पर संकट आया. कभी नास्तिको का जीवन दूभर रहा, कभी मादक द्रव्य निषेध करने वालों को कष्ट झेलने पड़े, कभी अपने को प्रजातन्त्री या समाजवादी कहना एक मुसीबत मोल लेना रहा। इन लोगो को विद्रोही कह कर इन्हे किस तरह सताया गया, उसकी रोमांचकारी कथाओं से इतिहास के पन्ने रँगे पड़े हैं। आज दिन प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की स्पष्ट रेखा शान्तिवाद है। युद्ध मानव जाति का सबसे अधिक घातक और भयकर शत्रु है। यदि हम इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य पालन न करें तो चाहे हम और कई छोटे मोटे कार्य कर गुज़रें, हम मानवता के अग्र भाग से पीठ दिखाने वाले ही रहेंगे।

उन्तीसवाँ अध्याय

हमें क्या करना चाहिए

अगर कोई आदमी अपने स्वप्नो की दिशा में विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहे, और ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता रहे, जैसा कि उसने सोच रखा है तो उसे वह सफलता मिलेगी, जिसकी मामूली समय में आशा नहीं की जा सकती। —थोरो

हमने इस किताब को पढ़ लिया। हम विश्व-राज्य के लिए क्या करें? जिन असूलों से विश्व-राज्य का निर्माण होता है, उन्हें फैलाने और उन्नति देने के लिए हमारा क्या कर्तव्य है?

पहली बात तोयह है कि हमारे अन्दर आशा, विश्वास और उमंग होनी चाहिए। विश्व-राज्य का निर्माण उसी तरह निश्चित या तय है, जैसे आधी रात के घोर अंधकार के बाद सुबह की रोशनी। हाँ, उसकी कल्पना ऐसे लोग नहीं कर सकते, जो रात के अंधकार से घबरा गये हों। आम लोगों का उसमें विश्वास नहीं होता। जिस युग में हम रह रहे हैं, वह साम्राज्यों के आपसी महायुद्धों की भयंकर घटनाओं और उनके दुष्परिणामों से ओत प्रोत है! संसार की जनता बेहद कष्ट भुगत रही है। जब कि लोगों के प्रिय जनों और प्रिय वस्तुओं का विनाश हो रहा हो तो लोगों का दुखी और परेशान होना स्वाभाविक है। पर यह ठीक नहीं है। विचारवान आदमी को धीरज और गम्भीरता से काम लेना चाहिए। चहुँ ओर की निराशा के वातावरण में भी आशा का परित्याग न करना चाहिए; और, चाहे जैसी परिस्थिति हो, हमें अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिए।

विश्व-राज्य के काम में एक बड़ी बाधा साम्राज्यवाद है, जो युद्धों के बल पर जिन्दा रहता है। संसार हिन्सा कांड से त्राहि त्राहि कर रहा है। इसका अन्त करने की बहुत सख्त जरूरत है। इसके लिए मानवता-प्रेमी हृदय चाहिएँ, जो खुशी खुशी अपना बलिदान करने को तैयार हों, उत्सुक हों। दुनिया की सब सरकारें एक दिन निशस्त्र होंगी, पर अभी दुविधा में पड़ी हैं। यही मौक़ा है कि हम लोग व्यक्तियों की हैसियत से

अपना कर्तव्य पालन कर दिखावें। किसी को आगे बढ़ना होगा। वह आगे बढ़ने वाले हमही क्यों न हों? हमें अपने निजी जीवन पर पूरा अधिकार और आज़ादी है। कोई हमें खेत और खलिहान मे, दफ्तर और कारखाने में, जेल और फांसी के तख्ते पर भी शान्तिवाद के असूल पर अमल करने से नहीं रोक सकता, हम नम्रता से, पर दृढ़ता और अभिमान से यह कह सकें कि हमारे दिल से, और हमारे घर से युद्ध सदा के लिये उठ चुका है; परमात्मा करे, यह सब के दिलों और सब के घरों से निकल जाय। बस, विश्व-राज्य का रास्ता साफ हो जायगा।

बहस करने वालों का यह सवाल बना ही रहता है कि विश्व-राज्य का निर्माण कब होगा। इसका जवाब यही है कि इसके लिये कुछ परिस्थितियाँ ज़रूरी हैं। उन परिस्थितियों का जल्दी या देर में आना हमारी कोशिशों पर निर्भर है। मानव समाज की प्रगति का हिसाब अंकगणित के प्रश्नों के उत्तर की तरह झटपट और गिन कर नहीं दिया जा सकता। उसमें कमी बेशी की गुँजायश रहती है। यदि सब विचारशील लोग इस काम में जुट जाँय, दूरदर्शी और व्यापक दृष्टिकोण वाले महानुभावों के आदेशों का पूरा पूरा लाभ उठाया जाय, उनके नेतृत्व और पथप्रदर्शन का ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो हज़ारों वर्ष में होनेवाला काम कुछ दशाब्दियो में ही पूरा हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाहे जब हो, विश्व-राज्य का कायम होना लाजमी है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि अगर कोई काम निकट भविष्य में होने वाला नहीं है तो हम उसका विचार, या उस दिशा में कोशिश क्यों करें। परन्तु यह दृष्टि क्षुद्र दृष्टि है। हम उस माली का दृष्टान्त अपने सामने रखें, जो पेड़

लगाता रहता है, यह जानते हुए भी कि इन से छाया और फल उसके जीवन काल मे न मिलेंगे, पर अगली पीढ़ी के काम आयेंगे। हम निष्काम भाव से विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य के पौधों को सींचते रहें, समय आने पर मानव समाज उनके फलों और छाया से लाभ उठाएगा।

हम यह अच्छी तरह समझ लें कि हमारे लिये विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए कोई देवता या फ़रिश्ते नहीं आवेंगे। दूसरे लोक के प्राणी आकर यह काम कर भी जायँ तो हमें उससे फ़ायदा नहीं होगा। व्यायाम या वायु-सेवन दूसरा आदमी करे, और स्वास्थ्य हमारा सुधरे, यह कैसे हो सकता है। अपने लिए कल्याणकारी विश्व-राज्य का निर्माण हमें ही करना है। जिन परिस्थितियों में उसकी स्थापना होगी, उन्हें पैदा करना हमारा ही काम है। हम सोचें कि क्या हमने इस दिशा में आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। कुछ महानुभावों ने हमें समय समय पर मार्ग दिखाया है, और इस समय भी कुछ विभूतियाँ हमारे कार्यक्रम का साफ़ साफ़ चित्र हमारे सामने रख रही हैं। दुर्भाग्यवश हमने उनकी बात सुनने और विचारने से बहुत दरजे तक इनकार कर रखा है, और कहीं कहीं उनकी आवाज़ आम लोगों तक न पहुँचने देने की भी व्यवस्था कर रखी है। पर समय आ रहा है, हमें अपनी भूल स्वीकार करनी होगी, इस तरह के विचारकों का संदेश सुनने के लिए उनके पास दौड़ना पड़ेगा। हम सच्चे हृदय से उनके आदेश का पालन करें, और विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य का निर्माण करने में सहायक हों।

हम यह समझ लें कि विश्व-राज्य के अभाव में जो स्थिति है; वह असह्य है। उसमें परिवर्तन होना ज़रूरी है। यह बात

छोटे और बड़े, पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े, किसानों और मज़दूरों, दूकानदारो और कारीगरों सब के दिल में बैठाई जाय और लोकमत तैयार किया जाय। हर मनुष्य अपने आपको विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य की भावना का प्रचारक समझे।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में यात्रा का भी पूरा पूरा महत्व समझें; संसार के विविध देशों की यात्रा करें, उनकी भाषाएँ सीखें, विश्व-साहित्य का अवलोकन करें, दूसरे देशों के निवासियों से मेलजोल बढ़ावें, और इस तरह अपने आपको और अपने साथियों को विश्व-नागरिकता के योग्य बनावें। विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ते समय विशेष सावधान रहने की ज़रूरत है। वे ऐसे इतिहास की भूलभुलैयों में न पड़ें, जो संकीर्ण राष्ट्रवादी लोगों ने लोभ या मोहवश तैयार किये हैं। वे विश्व-इतिहास का मनन करें। वे पिछली शताब्दियों की उन महान क्रान्तियों और संस्थाओं का हाल पढ़ें और सोचें, जिन्होंने भिन्न भिन्न क़ौमों का कायाकल्प करके मानवता के लिये कोई विशेष आदर्श प्रदान किया है। हम उन महापुरुषों का जीवनचरित्र पढ़ें, जिन्होंने मनुष्य-जाति के उत्थान में अपने आराम, स्वास्थ्य और जीवन तक को बलिदान कर दिया है। उन्होंने अपने त्याग के बल से बड़े बड़े सिंहासनों को हिला दिया है। त्याग की अनुपम शक्ति के सामने साम्राज्यों और पूँजीपतियों की सेनाएँ काम नहीं कर सकतीं। त्याग सब अत्याचारों का अंत कर सकता है। बस, त्याग की माँग है, धन का त्याग, स्वास्थ्य का त्याग, प्रिय जनों का त्याग और जीवन का त्याग।

आवश्यकता है कि विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम इसके लिए मरने को तैयार रहें, इससे बढ़

कर बात यह है कि हम इसी के लिए जीवित रहे। इसके आधारभूत सिद्धान्तों का हम अपने दैनिक जीवन में अभ्यास करें। हम सब को अपना भाई और साथी मानें; यह न हो कि अपने आपको दूसरों से ऊंचा समझें। हम न धनवानों की खुशामद या चापलूसी करें, और न ग़रीबों से घृणा करें। विलासिता और शौक़ीनी से हम दूर रहे। हमारा रहन सहन सादा हो, सब के प्रति हम सहनशील हों, और अपनी राय दूसरों पर ज़बरदस्ती न लादें। धर्म या राजनीति में जिनसे हमारा मत-भेद है, उनके भी अधिकारों का हम आदर करें। हम में अपनी ही स्वतंत्रता के लिए उत्साह न हो, हम सब की स्वतंत्रता की चिन्ता करें, तभी हम विश्व-राज्य की पताका फहराने वाले अग्रदूत हो सकेंगे।

लेखकों और कवियों को भी उनका कर्तव्य याद दिलाने की आवश्यकता है। अनेक लेखकों को अपनी शक्ति का पता नहीं होता, वे धनवानों या सत्ताधारियों के इशारे पर कलम चलाते हैं, घृणा द्वेष और कायरता का वातावरण बनाये रखने में सहायक होते हैं, वे अपने पाठकों और श्रोताओं को नवयुग का संदेश नहीं सुनाते, वे इस सृष्टि में कोई गहरा परिवर्तन करने की बात कहते हुए झिझकते हैं। लेखक-भाइयो! तुम पूँजीवाद और सम्राज्यवाद की चाकरी में कब तक निमग्न रहोगे? तुम्हारे लिए विश्व-राज्य के निर्माण का महान कार्य प्रतीक्षा कर रहा है। इधर-उधर की अनावश्यक और हानिकर बातों को छोड़ कर, विश्वबन्धुत्व का संदेश सुनाने में लग जाओ, अपने लेखों और पुस्तकों में इसी भावना को ओतप्रोत कर दो। तुम कहानीकार हो या उपन्यासकार, नाटककार हो या काव्य-रचयिता, तुम्हारी हर रचना का मूल मंत्र किसी न किसी रूप में

विश्व-राज्य की चर्चा हो। तुम बालकों के लिए लिखो या बूढ़ों के लिए, पुरुषों के वास्ते लिखो चाहे स्त्रियों के लिए; याद रखो तुम्हें अपने पाठकों के लिए विश्व-राज्य का महान आदर्श पेश करना है।

यही बात हर अध्यापक, हर उपदेशक, और हर सुधारक को करनी है।

तीसवाँ अध्याय

आत्म-निर्माण

जब व्यवहारों और विचारों में हमारे नेता समाज के पुनर्निर्माण की कोशिश करें तो होशियारी से उन सब प्रणालियों को नष्ट कर देना चाहिए, जो आत्माओं को तुच्छ बनाती हैं, और उनका विनाश करती हैं। उन्हें सब से पहले मनुष्य की आत्मा की उन्नति में पूरी सहायता देनी चाहिए। —*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

व्यक्ति अपना आत्म-निर्माण करे, संस्था उसमें से आप फूटेगी, और ऐसी ही संस्था स्थायी होगी। —*वीरेन्द्र कुमार*

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए हमें क्या करना चाहिए, उससे भी अधिक महत्व का विषय यह है कि उसके लिए हमें खुद कैसा बनना चाहिए।

यह बात हृदय में भली भांति धारण करने की है कि हमें संस्थाओं को बनाने से अधिक ध्यान स्वयं अपने आपको बनाने की ओर देना चाहिए। आजकल के युग को संस्था-युग कह सकते हैं। नित्य नयी संस्थाएँ बनती हैं। जो आज बनती है,

वह कल टूट जाती है। कोई स्थिर नहीं रहती। बात यह है कि इन संस्थाओं के निर्माण करने वालों में संस्था के प्रति यथेष्ट श्रद्धा, भक्ति, धुन या लगन नहीं होती; वे उसके नहीं हो रहते। वे बहुधंधी होते हैं, उन्हें अनेक काम करने की चिन्ता होती है, उनमें से कोई एक काम यदि न भी चला तो उन्हें विशेष परवाह नहीं होती, उन्हें उसका अभाव असह्य नहीं होता। जब संस्थापक का यह हाल हो तो सहायक और सहयोगियों की तो बात ही क्या!

इमर्सन ने कहा है कि 'हर बड़ी संस्था और कुछ नहीं, केवल किसी एक व्यक्ति की लम्बी परछाई है।' संस्थापक का ही चरित्र संस्था में दिखाई पड़ता है। उसके गुण अपने सजातीय गुण वाले दूसरे लोगों को उसकी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह एक प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले कुछ व्यक्तियों का संगठन होता है, और ये अपने प्रभाव से दूसरे ऐसे ही कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करते हैं। यह क्रिया उत्तरोतर आगे बढ़ती है, और संस्था का निर्माण हो जाता है। अब यदि केन्द्र में ठीक ठीक प्रकाश और दृढ़ता नहीं है; हिचकिचाहट, संकोच, शिथिलता, धुंधलापन आदि विद्यमान हैं तो ज्यों-ज्यों केन्द्र से आगे बढ़ते जायँगे, अवस्था अधिकाधिक चिन्तनीय होती जायगी। यदि राजधानी में काम क्रोध लोभ मोह का आधिपत्य है, तो दूर दूर के प्रान्तों में जो भी अन्धकार हो, सो कम है। जिन जीवाणुओं के अपने अन्दर जीवन और ओज नहीं, वे उर्वरा या उत्पादक जीवाणुओं के जन्मदाता कैसे हो सकते है!

हमें संस्था बनाने का चाव होता है। हम चाहते हैं कि किसी तरह हमारा भी नाम पाँच सवारों में लिखा जाय। लोग जान लें

कि हम में भी कुछ है। बस, हमें यह दिखाने भर की ही फ़िक्र होती है; किसी आदर्श, उद्देश्य या सिद्धान्त-पालन की हमें चिन्ता नहीं होती। हम दूसरो को धोखा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से अपनी जाँच करें तो स्पष्ट है कि हमारी इच्छा काम करने की नहीं होती, केवल यह होती है कि हमारी गिनती काम करने वालों में होने लगे। हम साहित्यिक बनना नहीं चाहते; उसके लिए जो साधना या तपस्या का जीवन चाहिए, उस से हम कोसों दूर रहते हैं, हम तो चाहते है कि किसी दूसरे की कृति या दूसरे के श्रम के सहारे हमारे नाम से चीज छप जाय, और हम लेखक गिन लिये जायँ। हम कवि के रूप मे प्रसिद्ध होना अवश्य चाहते हैं, और इसलिए ऐसे कवि-सम्मेलन में भाग लेने को तैयार रहते हैं जहाँ हमें ख्याति या अच्छी दक्षिणा मिले। वहाँ हम कृषकों या अकाल-पीड़ितों का क्रन्दन भी खूब सुर ताल से सुनावेंगे। परन्तु वास्तव में हम कविहृदय नही चाहते; कवि बनकर दिन रात अपनी आँखों के सामने आनेवाले दीन दुखियों के कष्टों से पीड़ित होते रहना हमें पसन्द नहीं। हम धर्मात्मा बनना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वास्तव मे धर्मात्मा होंगे तो हमें अपने दीन हीन भाइयों के दुख दारिद्र्य को दूर करने में अपनी समस्त सम्पत्ति लगा देनी होगी, और हमें उनसे अधिक सुखमय जीवन का व्यतीत करने का अधिकार न होगा। यह बात हमारे वश की नहीं। हम तो किसी मंदिर, अनाथालय, आदि में कुछ चन्दा दे देना चाहते हैं, बशर्ते कि वहाँ हमारे नाम का पत्थर लगजाय, या रिपोर्टों या पत्रों में हमारे दान धर्म की विज्ञप्ति की जाय।

खास तरह की पोशाक पहन कर, चिन्ह धारण कर, या खास नारे लगाकर, हम समाजवादी 'कामरेड' कहलाना पसन्द

करते हैं, पर क्या हम कभी सोचते हैं कि समाजवादी को अपने पास धन सम्पत्ति जोड़ कर रखने की इजाज़त नहीं होती, जब कि देश में अनेक आदमियों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन वस्त्र का भी अभाव हो। समाजवादी की कोई व्यक्तिगत पूँजी, भूमि, जायदाद आदि नहीं होती।

हम विश्व-निर्माण की बातें करने में पीछे नहीं रहते, पर सच पूछो तो हमें अपने घर बनाने की ही फिक्र रहती है। किस प्रकार हम अधिक से अधिक कीर्ति, यश, सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, यही हमारा एकमात्र लक्ष्य होता है। हम अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों की चर्चा करते रहेंगे, पर उससे हमारे किसी स्वार्थ पर आंच न आनी चाहिये।

भला, ऐसे आदमियों से विश्व-निर्माण कैसे होगा ? विश्व-राज्य को बातूनी और पाखंडी, घमंडी या अहंकारी व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं। ये उसके नागरिक होने के योग्य नहीं होते। विश्व-राज्य को ज़रूरत है, उन शुद्ध निष्कपट सच्चरित्र हृदयवान सज्जनों की, जिन्हों ने काम क्रोध लोभ मोह को जीत लिया हो, या जो जीतने का हृदय से प्रयत्न कर रहे हों, जिन्हों ने केवल प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए ही पुस्तकों को कंठ करने या परीक्षाएँ पास करने का कष्ट न उठाया हो, बल्कि जो सांसारिक माप दंड के अनुसार अशिक्षित कहे जाते हुए भी वास्तव में सुशिक्षित हों, जिन्होंने ने दूसरों पर या प्रकृति पर विजय पाने की अपेक्षा स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करने की साधना की हो, और जिन्हों ने अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का निश्चय किया हो।

जिन लोगों का चरित्र-निर्माण ठीक रीति से नहीं हुआ है, और जिन्हों ने इन्द्रिय-संयम का अभ्यास नहीं किया है, उन

की सब शिक्षा दीक्षा व्यर्थ है। वे अपने ज्ञान विज्ञान और शक्ति का सदुपयोग करेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं रहता। नीतिकार के शब्दों में उनकी विद्या विवाद के लिए, धन मद या अहंकार के लिए, और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है।* ऐसे लोग किसी भी संस्था या विधान का अनर्थ कर डालते हैं। ऐसे लोगों के कारण ही जनतंत्रवाद असफल कहा जा रहा है, इन्हो ने साइन्स अर्थात् विज्ञान को हिन्सा का साधन बना डाला है, ये समाजवाद को भी ठीक तरह काम न करने देंगे। इसलिए इंद्रिय-संयम और साधुस्वभाव की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे विद्या का उपयोग विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, धन दूसरों की सहायता के लिए हो, और शक्ति दूसरों की रक्षा के काम में आए।

विश्व-राज्य का नागरिक बनने में चरित्र सम्बन्धी थोड़ी सी त्रुटि भी बहुत घातक हो सकती है।

महाभारत-युद्ध के मूल में यह छोटी सी बात थी कि जब दुर्योधन को पाँडुओं के विलक्षण महल में जल की जगह स्थल का, और स्थल की जगह जल का भ्रम हुआ तो द्रौपदी ने व्यंग पूर्वक कह डाला कि अंधे की संतान अंधी ही होती है। चरित्र की छोटी-छोटी बातों का कैसा भयंकर दुष्परिणाम होता है! तनिक सी चिंगारी बड़े बड़े भवनों को भस्म कर डालती है! वास्तव में इन बातों को छोटी समझ कर इनकी अवहेलना करना बड़ी भूल है। श्री० शिवनन्दन प्रसाद जी एम० ए० ने ठीक लिखा है—"किसी एक द्रौपदी के कुछ असावधान शब्द, किसी एक मंथरा की प्रतिशोध भावना, किसी एक शूर्पनखा की उद्दाम

* विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्ति परेषा पर पीड़नाय।
साधोरसाधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय॥

वासना, ऐसी घटनाओं को जन्म देने मे समर्थ हैं, जो संसार भर पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं; मानव जाति का संहार कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि युद्ध न हुआ करें, विश्व-शान्ति के उन्मुक्त आकाश मे संग्राम के काले बादल न छाया करें तो हमें भौतिक जीवन की समस्याओं की ओर ही नहीं, अन्तर्जगत् की ओर भी दृष्टि डालनी होगी; क्योकि इस वाह्य विश्व की सारी घटनाएँ आन्तरिक संसार की छाया मात्र हैं; निराकार भावनाओं, धारणाओ और विचारों के साकार रूप हैं। आज के महायुद्ध का दानव विज्ञान और कल कारखानों द्वारा प्रसूत नहीं है—इन जड़ वस्तुओं में इतनी क्षमता नहीं कि विश्वव्यापी युद्धों को जन्म दें। वर्तमान महायुद्ध के मूल में मानव हृदय की वह अतृप्त लालसा है, वह दुर्दमनीय धन-लिप्सा और अधिकार की प्यास है, जो अपना भीषण रूप पूंजीपतियों की संगठित संस्थाओं के द्वारा (जिसे साम्राज्य कहते हैं) दिखला रही है।*

इससे आत्म-निर्माण और चरित्र गठन का महत्व स्पष्ट है। व्यक्तियों में यह बात जितनी अधिक होगी, उतना ही उनकी संस्थाएँ अधिक सुन्दर, महान और स्थायी होंगी। विश्व-राज्य के लिए इसकी आवश्यकता और उपयोगिता और भी अधिक है। जो व्यक्ति काम क्रोध आदि मन के विकारों को वश में कर लेता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त कर सकता है; अर्थात् कोई कार्य उसकी शक्ति से बाहर नहीं रहता। ऐसे ही व्यक्तियों से विश्व-राज्य संगठित होगा। इस लिए स्वामी राम के शब्दों को जरा बदल कर, हमें यह कहना है—

---

*'मानव धर्म' अक्तबर १६४३।

विश्व राज्य के लिए आवश्यकता है।

निर्माताओं की—दूसरों का निर्माण करने वालों की नहीं, वरन् स्वयं अपना निर्माण करने वालों की।

योग्यता—जिन्होंने प्राप्त किया है, विश्वविद्यालय की डिगरियाँ नहीं, परन्तु अपने अहंकार और काम पर विजय।

आयु—ब्रह्मानन्द की युवावस्था (सांसारिक गणना के हिसाब से वह चाहे पन्द्रह वर्ष की हो, या पिछत्तर अस्सी वर्ष की ही क्यों न हो)

वेतन—आत्म-संतोष।

शीघ्र प्रार्थना पत्र भेजो—'भिक्षांदेही' के शब्दों में नहीं, परन्तु अधिकारपूर्ण फैसले के साथ।

विश्व के स्वामी को—अर्थात् अपने आप को।

अन्त में निवेदन है कि इस रचना के पाठक और श्रोता आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण करते हुए विश्व-राज्य के नागरिक बनने के लिए अधिकाधिक योग्यता का परिचय दें। चाहे उन्हें राष्ट्र-राज्य में रहना पड़ रहा हो, परन्तु वे अपने विविध कर्तव्यों के पालन में भावना विश्व-राज्य की ही रखें। वे यह समझलें कि हम तो अभी से विश्व-राज्य या विश्व-संघ के नागरिक हैं, और हमारा लिखना, पढ़ना, शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि सब कार्य इस दृष्टि से होगा कि वह विश्व-नागरिक द्वारा, विश्व-राज्य के लिए है। जिस प्रभु, परमात्मा, खुदा; 'गाड' या किसी दूसरी बड़ी शक्ति या सत्ता में हमें विश्वास है, वह हमें इस सत्कार्य के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दे। शुभम्

परिशिष्ट

विश्व-संघ में पशु पक्षी

इस पुस्तक में हमने विश्व-व्यवस्था पर विचार मनुष्य की दृष्टि से किया है। मनुष्य इस सृष्टि का सब से श्रेष्ठ प्राणी है, और उस पर इस बात की जिम्मेवारी है कि वह न केवल अपने सामूहिक और व्यापक हित का विचार करे, बल्कि दूसरे प्राणियों के बारे में भी उदारता और न्याय की भावना का परिचय दे। इसलिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ में पशु पक्षियों की दशा कैसी होगी। ध्यान रहे कि पशु पक्षियों के साथ मनुष्य जो व्यवहार करेगा, उसका असर केवल उन पर ही नहीं पड़ेगा बल्कि स्वयं मनुष्य पर भी पड़ेगा।

क्या पशु पक्षी भी मनुष्य के प्रेम के अधिकारी होंगे? विषय कुछ जटिल और वादग्रस्त है, फिर भी विचारने योग्य है। सभ्यता के शुरू में आदमी ने जब जंगलों को काट कर भूमि साफ की, तो उसने अनेक पशुओं को मारा। उस समय उस के सामने भोजन की बड़ी समस्या मौजूद थी, उसे खेती करने का ज्ञान नहीं था। कन्द मूल फल सब जगह और सदैव काफी नहीं मिलते थे। इसलिए जिन पशु पक्षियों का मांस वह खा सकता था, खा लेता था; और जिनका चमड़ा ओढ़ कर अपनी सर्दी का बचाव कर सकता था, उनकी खाल काम में ले आता था। पशुओं का इस से अधिक और कुछ उपयोग वह करना ही नहीं

जानता था। कुछ पशु पक्षी तो बहुत ही भयानक, ज़हरीले और हानिकर है; आदमी उनका उपयोग अभी तक नहीं जान पाया, जैसे शेर, भेड़िया, साँप, मक्खी, मच्छर, दीमक आदि। जब तक आदमी की जानकारी आज कल के परिमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ती, साधारण आदमी से इन प्राणियों के प्रति विशेष उदारता के व्यवहार की आशा नहीं है। परन्तु कुछ पशुओं के बारे में तो वह जान गया है कि उन्हें मार कर खाने की अपेक्षा, पाल कर रखना अधिक उपयोगी है, किसी से दूध आदि मिल सकता है, और कोई सवारी या माल ढोने आदि के काम आ सकता है। इस विचार से आदमी ने उनको पालना शुरू किया।

प्रश्न यह है कि जो पशु प्रेम से पाले जा सकते हैं, और आदमी को किसी तरह की हानि न पहुँचा कर उसकी बहुमूल्य सेवा करते हैं, उनके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए। उदारता न सही, क्या न्याय की भी आशा न की जाय? बेचारे प्राणी हमारी शरण में आना स्वीकार कर लें, और हम उनके साथ विश्वासघात करके अपने स्वार्थ या क्षणिक आनन्द के लिए उनके प्राण लेने की ताक में रहें। क्या यह काम मनुष्य को शोभा देता है? गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि की हत्या करना, क्या उनकी निर्बलता या सुशीलता का अनुचित लाभ उठाना नहीं है। वे हमें अमृत जैसा दूध दें, और हम उनके खून के प्यासे बने रहे! कैसी कृतघ्नता है! इसका तो अन्त होना चाहिए। घोड़े, गधे, खच्चर, ऊँट, कुत्ते, बैल से हम अपनी रोजी कमाते हैं तो भी इनके भोजनादि की हम यथेष्ट चिंता नहीं करते, बोझा लादते समय हम उनकी शक्ति का विचार नहीं करते, हम उन्हें बुरी तरह मारते पीटते हैं, और उनके बीमार पड़ने पर उनकी दवा-दारू का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं

करते। क्या इनसान को ऐसा व्यवहार करना शोभा देता है ?

और हम अपने मनोरंजन के लिए ही कितने निर्दयी हो हो जाते हैं ! हिरण, खरगोश या लोमड़ी का शिकार, घुड़दौड़, बैलों की दौड़, सांड़ों की लड़ाई, मुर्गों या बटेरों की लड़ाई, आदि मनुष्य के काले कारनामे हैं। कितने ही आदमी ऐसी पोशाक पहनते हैं जिस में पर, बाल या चमड़ा लगाने के लिए बेशुमार जानवरों की हत्या करनी पड़ती है। भारतवर्ष में भी कितने ही आदमी मृगछाला और रेशमी कपड़े का, 'पवित्रता' की आड़ में, उपयोग करते हैं।

पशु पक्षियों के प्रश्न का, मांसाहार से बहुत सम्बन्ध है। इस समय संसार के अधिकांश आदमी मांसाहारी हैं; कुछ आदमी सभी तरह का मांस खाते हैं, और दूसरे आदमियों में से कुछ एक तरह के मांस से परहेज करते हैं, और कुछ दूसरी तरह के मांस से। जिन स्थानों की जलवायु या मिट्टी ऐसी है कि अन्न और फल काफ़ी पैदा नहीं होते, वहाँ आदमियों को मजबूर होकर मांस पर गुज़ारा करना पड़ता है। परन्तु विज्ञान की उन्नति हो जाने से अब अन्न और फल ऐसे बहुत से स्थानों में पैदा किये जा सकते हैं, जहाँ पहले पैदा नहीं होते थे। और यह आशा है कि धीरे धीरे उन जगहों में से भी बहुत सों में इनकी पैदावार हो सकेगी, जहाँ अब नहीं हो पाती। इसके अलावा माल ढोने के साधनों की उन्नति हो जाने से यह बात तो अब भी मुमकिन है कि जहाँ ये चीज़ें पैदा नहीं हो सकतीं, वहाँ दूसरे स्थानों से पहुँचाई जा सकती हैं। आगे ज्यों ज्यों आने जाने के साधनों में अधिक उन्नति होगी, इन चीज़ों को लाने ले जाने का काम और भी आसान हो जायगा, तब उसमें इतनी मेहनत और समय न लगेगा जितना अब लगता है।

तब यह काम बहुत ही जल्दी हो जाया करेगा, और लोगों को इस बात से कोई असुविधा न होगी कि कोई चीज़ उनके यहाँ पैदा नहीं होती, और दूसरी जगह से मँगायी जाती है। इस तरह भविष्य में आदमी को इन चीज़ों की कमी के कारण माँस खाने की ज़रूरत न रहेगी। फिर, इतिहास बतलाता है कि मांसाहार की ओर मनुष्य का रुझान घट रहा है और मनुष्य की रुचि में सुधार हो रहा है। एक समय था, आदमी दूसरे आदमियों को मारकर उसका माँस बड़े शौक से खाता था, और ताजा खून पीने में बड़ी शान समझता था। अब भी इस तरह के आदमियों के कुछ नमूने मिल सकते हैं, परन्तु वे आदमी ऐसे ही हैं जो सभ्य जनता से दूर एकान्त में या तो घने जंगलों में रहते हैं या पहाड़ी इलाकों में। साधारण तौर से आदमी उस जंगली हालत को छोड़ कर बहुत आगे बढ़ चुका है। आज कल का 'सभ्य' आदमी ऐसी बातों से नफरत करता है। इसी तरह आदमी का ज्ञान बढ़ जाने से अब वह बहुत से पशुओं के पालने के फायदे जान गया है; वह उन्हें मारने के बजाय उनको पालता है, और प्यार से रखता है।

आदमी को और आगे बढ़ना है। अभी वह प्रायः पशुओं का पालन इसलिए करता है कि उसे उनसे दूध मिलता है या वे खेती या सवारी करने या माल ढोने आदि के काम आते हैं। ज़रूरत है कि आदमी इस स्वार्थ के विचार को छोड़ कर पशुओं के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय दे।

पशु पक्षियों को पाल कर रखना भी कहाँ तक और किन हालतों में ठीक है? हम पशुओं को खाने पीने की चीजें दें और उनके भूख प्यास के कष्ट को दूर करें, यह तो ठीक है, पर क्या किसी को रस्सी या जंजीर से बाँध कर या पींजरे में

बंद करके रखना ठीक है ? रस्सी सन की हो या सूत की, और ज़ंजीर या पींजरा लोहे का हो या चाँदी का, और चाहे सोने का ही क्यों न हो, बन्धन आखिर बंधन ही है। जो आदमी पशु पक्षियो को बंधन में रखते है, वे ज़रा विचार करें कि क्या वे खुद ऐसे बन्धन में रहना पसन्द करेंगे। हम उस आदमी को कैसा समझेंगे जो हमे कैद या बन्धन में रखता हैं ? क्या हम अपनी रोटी कपड़े के लिए या दूसरे सुख के लिए पराधीन होना स्वीकार करेंगे ?

आदमी आज़ाद रहना चाहता है और स्वतन्त्रता-प्रेमी होने का दावा करता है। क्या वह यह नहीं जानता कि पशु पक्षियो को भी अपनी स्वतन्त्रता प्यारी है, और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे मनुष्य के अधीन होना नहीं चाहते। मिसाल के तौर पर मथुरा वृन्दावन के बीच जँगल में कुछ बन-गायें यानी जँगली गायें रहती हैं। जब कभी आदमी उन्हे पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वे दौड़ जाती है, और अगर कोई आदमी उनके पास पहुँच जावे तो उसे सींगों से बुरी तरह मारती हैं। आदमियो ने धोखा देकर और बहुत मुश्किल से कभी कभी किसी बनगाय को पकड़ने में सफलता प्राप्त की है, इस तरह धीरे धीरे उनकी संख्या अब बहुत कम रह गयी है. तो भी, सैकड़ो वर्ष के घोर संघर्ष के बाद भी, कुछ बनगायें पायी जाती हैं, यह उनके स्वतंत्रता-प्रेम का अच्छा सबूत है। इसी तरह की जँगली गायें कानपुर ज़िले और दूसरी जगहों में भी पायी जाती हैं।

एक और घटना पर विचार कीजिये। एक आदमी को एक पक्षी का रंग रूप तथा आवाज़ बहुत पसन्द आई, और उसने तरह तरह की कोशिशें करके जैसे तैसे उसे पकड़ लिया। पक्षी

को पींजरे में रखा गया, और उसे खाने के लिये कई तरह के पदार्थ दिये गये। परन्तु पक्षी ने कोई चीज़ न खायी और भूखा ही रहा। उसके मालिक को बड़ी फिक्र थी; कहीं ऐसा न हो कि यह भूख से मर जाय। उसे बड़ी खुशी हुई, जब उसने देखा कि उसी पक्षी की जाति का दूसरा पक्षी वहाँ आने लगा और वह उस पक्षी को खाना खिलाने लगा। परन्तु अगले दिन मालिक को यह देख कर आश्चर्य और दुख हुआ कि उसका पींजरे का पक्षी मर गया है। उसने एक पक्षी-विशेषज्ञ से इस विषय में पूछ-ताछ की। अन्त में मालूम हुआ कि जो पक्षी खाना खिलाने आया था, वह पींजरे के पक्षी की मा थी; उसे यह सहन न हुआ कि उसका बच्चा पराधीनता का जीवन बिताये, इसलिए उसने उसे ज़हरीली वस्तु खिलाकर मार डाला। यह है पक्षियों का स्वतंत्रता-प्रेम! वे अपनी संतान को पराधीन रूप में देखने के बजाय उन्हें मार डालना पसन्द करते हैं। इस से ज़ाहिर है कि पराधीनता उनके लिए कितनी कष्टदायी है।

कई बार देखा गया है कि जो पक्षी कुछ समय पींजरे में रह चुकता है, उस में अच्छी तरह उड़ने की शक्ति नहीं रहती। इसके अलावा, स्वतंत्र पक्षी गुलामी का जीवन व्यतीत कर चुकने वाले पक्षी को अपने समूह में रखना पसन्द नहीं करते, वे उसे जाति-बाहर कर देते हैं, और मार मार कर उसे अपने पास से भगा देते हैं। आदमी को चाहिए कि किसी पशु पक्षी को अपने अधीन न करे, सब को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का पूरा आनन्द लेने दे। अपने स्वार्थ या मनोरञ्जन के लिए किसी को बंधन में रखना उचित नहीं। जो पालतू पशु पक्षी स्वयं अपनी इच्छा से हमारे पास रहना चाहते हैं, या जिनको छोड़ देने से उनकी जान के लिये कोई जोखम मालूम हो, उन्हें हम

भले ही अपने पास रखें। पर और किसी को हम पालने की भी कोशिश न करें, जब कि पालने का अर्थ उन्हें उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से वंचित करना है।

कहा जा सकता है कि यदि हम गाय, भैंस आदि को न पालेंगे और बाँध कर न रखा करेंगे तो हमें दूध, दही और घी और इनसे बनने वाली तरह तरह की स्वाद और पुष्टिकारक चीज़ें कैसे मिलेंगी ? और बैल, घोड़े, भैंसे या ऊंट से माल ढोने या सवारी का जो काम लिया जाता है, वह कैसे होगा। इस बारे मे हमें अपने मन में साफ साफ विचार करना चाहिए। हम उनकी स्वतंत्रता के पक्ष में हैं या नहीं। यदि हम उनकी स्वतंत्रता सच्चे हृदय से चाहते हैं तो उसके लिये हमें अपने स्वार्थ का त्याग करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। दूध दही के अभाव में हमें इन चीज़ों का काम, विज्ञान की सहायता लेकर, दूसरी चीज़ो से निकालना चाहिए, या इनके बिना ही अपना निर्वाह करना चाहिए; इसी तरह सवारी या माल ढोने के दूसरे ढग निकालने चाहिएँ। इस में विज्ञान से अच्छी सहायता मिल सकती है, और भविष्य में और उन्नति होने पर वह सहायता और अधिक मिल सकेगी।

हम तो उस सुन्दर भविष्य की आशा करते हैं, जब आदमी को पशु पक्षियों के पकड़ने के लिए उन्हें तरह तरह के कष्ट देने न पड़ेंगे, और न उन्हें बाँध कर रखने की ज़रूरत होगी। आदमी उन्हे प्रेम से अपनी ओर आकषित कर सकेगा। कोई पशु जब चाहे हमारे पास आवे. जब तक चाहे ठहरे, और जब चाहे चला जावे, हमें उसकी स्वतन्त्रता में बाधक न होना चाहिए। यदि हमने अपने मन में प्रेम की भावना खूब विकसित कर ली है तो पशु पक्षियों को स्वतंत्र रहते हुये भी हमारे पास आना जाना

और रहना अच्छा लगेगा। अगर वे अपनी इच्छा से खुशी खुशी हमारे पास रहें, और हम उन्हें प्यार करें तथा खिलावें पिलावें तो उनसे कुछ लाभ उठाने में भी हर्ज नहीं है; बशर्ते कि हमारा उनका सम्बन्ध एक परिवार क सदस्यों की तरह का हो, मालिक गुलाम का नहीं। हम ऐसे चित्र देखते हैं और ऐसी कथाएँ सुनते हैं कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं, या शेर और गाय किसी साधु के पास एक साथ रहते हैं। ये बातें चिर काल तक केवल कल्पना में ही न रहेगी। मनुष्य को इन्हें कार्य रूप में लाना है, इन्हे सच्ची करके दिखाना है। वर्तमान अवस्था में, जब पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण आदमी दूसरे आदमियों को आर्थिक या राजनैतिक दासता में जकड़ रहे हैं, पशुओं की स्वतंत्रता की बात कुछ अनहोनी या अजीब मालूम होगी। परन्तु हम कुछ गहरी दृष्टि से और उदारता से सोचें तो यह ऐसी बात नहीं है। सच्चे मन से प्रेम करने वाले जब इन बातों का प्रचार करेंगे तो सहज ही और थोड़े ही समय में इसके लिए अनुकूल वातावरण हो जायगा।

यहाँ हम एक घटना का ज़िक्र करना ज़रूरी समझते हैं। कुछ समय हुआ, एक स्वयंसेवक गाँव में गया। एक घर में वह देखता है एक स्त्री अपने स्तन से एक बकरी के बच्चे को दूध पिला रही है। स्वयंसेवक के पूछने पर उस महिला ने कहा कि बकरी मर गयी है, और अपने पीछे यह बच्चा छोड़ गयी है; अब मैं ही इसकी मा हूँ, जैसे कि मैं अपनी गोद के दूसरे बच्चे की मा हूँ। यह है, मातृप्रेम! और, यह है ऊंचे दर्जे का प्रेम, जिसकी सीमा अपनी ही जाति यानी मनुष्य-संतान तक परिमित न हो, बल्कि पशु पक्षियों से भी अपनेपन का अनुभव करें। आदमी एक दूसरे से कह दिया करते हैं कि मैं आपको अपना ही समझता हूँ,

आप के लिए जी-जान हाजिर है। पर असल में देखा जाय तो ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो दूसरे आदमियों के लिए जी-जान हाजिर कर सकें, और, उनकी तादाद तो और भी कम है, जो पशु पक्षियों से निस्वार्थ प्रेम करें और उनकी भरसक सेवा सहायता करें। पाठक तनिक विचार करें कि पशु पक्षियों के प्रति, और खासकर ऐसे पशु पक्षियों के प्रति जिन्हें प्रेम से पाला जा सकता है, आदमी का क्या फर्ज है, उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए।

आशा है, आदमी में प्रेम और दया का भाव बढ़ता जायगा, उसमें पशु पक्षियों के प्रति भी उदारता की भावना बढ़ेगी। इनसान खुद सुखी रहते हुए दूसरे जीवों को भी सुख शान्ति से, और निर्भयता के साथ सृष्टि का आनन्द लेने देगा। जो पशु पक्षी आज मनुष्य को अपने हत्यारे या शिकारी के रूप में देखते हैं, और मनुष्य से यमराज की तरह डरते हैं, वे उसको अपना प्रेमी और सहायक मानेंगे। वह विश्व-राज्य कितना सुन्दर होगा जब मनुष्य का आदर्श केवल मनुष्य मात्र से भ्रातृभाव न होकर प्राणी मात्र से भाईचारा होगा — जब वास्तव में विश्वबंधुत्व का व्यवहार किया जायगा।

सहायक साहित्य

'हिन्ट्स फार सेल्फ-कल्चर'	... श्री० हरदयाल एम० ए०
'ए लास्टिंग पीस'	.. एम० गारनेट, और एच० डब्ल्यू० कोपलर
'असेन्श्यल यूनिटी आफ् आल रिलीजन्स'	... डा० भगवानदास
'प्रिफेस टु पीस'	... नार्मन एंजल
राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति	.. रामनारायण यादवेन्दु
आत्म निर्माण	... चन्द्रशेखर शास्त्री
चरित्र निर्माण	... ,, ,,

राष्ट्र-संघ के उद्देश्य और विधान

विश्ववाणी, वीणा, मानव धर्म, मधुकर, प्रताप, शुभचिन्तक आदि पत्र पत्रिकाएँ।